युगपुरुष ब्रह्मलीन महन्त दिग्विजयनाथ स्मृति
व्याख्यानमाला-९

विमर्ष्ठा-२०१५

सम्पादक
प्रदीप कुमार राव

महाराणा प्रताप स्नातकोत्तर महाविद्यालय
जंगल धूसड़, गोरखपुर- २७३०१४

विमर्ष्ठा-२०१५
युगपुरुष ब्रह्मलीन महन्त दिग्विजयनाथ स्मष्ठि व्याख्यानमाला-९
२७ अगस्त से ०२ सितम्बर, २०१५
वर्ष-९, अंक-९
ISSN : 0976-0849

परामर्ष्ठा मण्डल :
प्रो. यू.पी. सिंह, पूर्व कुलपति, वीर बहादुर सिंह पूर्वांचल वि.वि.जौनपुर
प्रो. प्रताप सिंह, पूर्व अध्यक्ष, उच्चतर ष्ठिक्षा सेवा आयोग, उ.प्र.
प्रो. रामअचल सिंह, पूर्व कुलपति, रा.म.लो.अवध विष्ठवविद्यालय, फैजाबाद
प्रो. ष्ठिवाजी सिंह, पूर्व अध्यक्ष, प्राचीन इतिहास विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गो.वि.वि.गोरखपुर
प्रो. सदानन्दप्रसाद गुप्त, आचार्य (अ. प्र.) हिन्दी विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गो.वि.वि.गोरखपुर

सम्पादक :
प्रदीप कुमार राव

सह-सम्पादक :
महेष्ठा नारायण त्रिगुणायत
डॉ. अविनाष्ठा प्रताप सिंह
सुबोध कुमार मिश्र

मूल्य : **१५० रुपये**

© **सम्पादकाधीन**

प्रकाष्ठक :
महाराणा प्रताप स्नातकोत्तर महाविद्यालय
जंगल धूसड़, गोरखपुर

मुद्रक :
कमल ऑफसेट प्रिण्टर्स
दुर्गाबाड़ी, गोरखपुर-२७३००१

वन्दे भारतमातरम् !!

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेष्ठचैव दक्षिणम्।

वर्ष तद्भारत नाम भारती यत्र सन्ततिः॥ वा.पु.

पृथ्वी का वह भाग जो समुद्र के उत्तर में तथा हिमालय के दक्षिण में स्थित है, भारतवर्ष है, जहाँ भारती प्रजा रहती है।

अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महामुने।

यतो हि कर्मभूरेषा ह्यतोऽन्याः भोगभूमयः॥ वा.पु.

इस जम्बू-द्वीप में भी, हे महामुने! भारतवर्ष श्रेष्ठ है, क्योंकि यह कर्मभूमि है और बाकी भोग-भूमियाँ ही हैं।

अत्र जन्म सहस्राणां सहस्रैरपि सत्तम।

कदाचिल्लभते जन्तुर्मानुष्यं पुण्यसञ्चयात्॥ वा.पु.

भारतवर्ष में जीव हजारों जन्मों के अनन्तर पुण्य जुटाने से कदाचित् मनुष्य जन्म प्राप्त करता है।

एतद्देष्ठाप्रसूतस्य सकाष्ठादग्रजन्मनः।

स्वं स्वं चरित्रं ष्ठिक्षेरन् पृष्ठिव्यां सर्वमानवाः॥ मनु.

इस देष्ठा में जन्म पाए हुए श्रेष्ठ जन्मा पुरुषों से पृष्ठिवी के सारे मनुष्य अपने-अपने चरित्र की ष्ठिक्षा ग्रहण करें।

रत्नाकराधौतपदां हिमालयकिरीटिनीम्।

ब्रह्मराजर्षिरत्नाढ्यां वन्दे भारतमातरम्॥

समुद्र जिसके पाँव पखार रहा है, हिमालय जिसका किरीट है और जो ब्रह्मर्षि-राजर्षिरूप रत्नों से समृद्ध हैं, ऐसी भारत-माता की मैं वन्दना करता हूँ।

भारतीय जीवन दृष्टि

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विष्ठवतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः।

देवा नो यथा सदमिद् वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवे दिवे॥ (ऋग्वेद 1/49/1)

कल्याणकारिणी, अप्रतारित, अप्रतिरुद्ध तथा अर्थसाधिका बुद्धियाँ हमारे पास सब ओर से आयें, जिससे निरलस एवं प्रतिदिन रक्षा करने वाले देव सर्वदा हमारी वृद्धि के लिए हों।-

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।

स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥ (ऋग्वेद 1/8/8)

हे देव! हम कानों से अच्छा सुनें। यजनीय देवगण! हम आँखों से अच्छा देखें। हम दृढ़ाङ्ग शरीरों से तुम्हारी स्तुति करते हुए, देव-स्थापित आयु प्राप्त करें।

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।

बलमसि बलं मयि धेहि। ओजोऽसि ओजो मयि धेहि।

महोऽसि महो मयि धेहि। सहोऽसि सहो मयि धेहि। (यजुर्वेद 19/9)

(हे परमात्मन्! तुम) तेज हो, मुझमें तेज स्थापित करो। पराक्रम हो, मुझमें पराक्रम स्थापित करो। बल हो, मुझमें बल स्थापित करो। ओज हो, मुझमें ओज स्थापित करो। मह हो, मुझमें मह स्थापित करो। सहिष्णु हो, मुझमें सहिष्णुता स्थापित करो।

भद्रं इच्छन्त ऋषयः स्वर्विदः, तपो दीक्षा उपसेदुः अग्रे।

ततो राष्ट्रं बल ओजश्च जात तदस्मै देवा उपसंनमन्तु॥ (अथर्व. 19/41/1)

आत्मज्ञानी ऋषियों ने जगत् का कल्याण करने की इच्छा से सृष्टि के आरम्भ में दीक्षा लेकर जो तप किया, उससे राष्ट्र-निर्माण हुआ, राष्ट्रीय बल और ओज भी हुआ। इसलिए सब विवुध इस राष्ट्र के सामने नम्र होकर इसकी सेवा करें।

आ ब्रह्मन्! ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्। आ राष्ट्रे राजन्यः शूराविध्यतेऽतिव्याधी महारथो जायताम्। दोग्ध्री धेनुः, वोढाऽनड्वान्, आशुः सप्तिः, पुरन्धिर्योषा, जिष्णुरथेष्ठाः, सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्। निकामे-निकामे पर्जन्यो वर्षतु। फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्। योगक्षेमो नः कल्पताम्। (यजुर्वेद. 22/22)

हे ब्रह्मन्! राष्ट्र में हमारे ब्राह्मण, ब्रह्म वर्चस्वी हों। हमारे राजन्य शूर, अस्त्र-शास्त्र में निपुण, रिपुदल के महासंहारक तथा महायोद्धा हों। हमारी गायें दुधारू हों, बैल हल आदि ढोने वाले हों, घोड़े वेग से दौड़ने वाले हों, स्त्रियाँ घर सँभालने वाली हों, योद्धा विजयशील हों, तथा युवक सभ्य एवं वीर हों। जब-जब हम चाहें बादल बरसें। हमारी फल-फूलवती खेतियाँ पकती रहें और हमारा योगक्षेम चलता रहे।

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।

तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

पुण्य-स्मृति

गोरक्षपीठ द्वारा संचालित
महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद्
शिक्षा क्षेत्र की एक अग्रणी संस्था है।
पूर्वी उत्तर प्रदेश में गोरखपुर को केन्द्र बनाकर
प्राथमिक से उच्च शिक्षा तक लगभग तीन दर्जन से अधिक
शिक्षण संस्थानों का संचालन करने वाले
महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद्
की स्थापना १९३२ ई. में
गोरक्षपीठाधीश्वर
महन्त दिग्विजयनाथ जी महाराज ने की थी।
महाराणा प्रताप स्नातकोत्तर महाविद्यालय
इसी महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद्
जैसे वटवृक्ष की एक शाखा है।
युगपुरुष ब्रह्मलीन महन्त
दिग्विजयनाथ जी महाराज की
पुण्यस्मृति में
सादर समर्पित है

विमर्श-२०१५

महन्त दिग्विजयनाथ जी महाराज

मील के पत्थर :

1.	जन्म	वैष्ठाखी पूर्णिमा,	1894 ई.
2.	गोरखपुर आगमन		1899 ई.
3.	महात्मा गाँधी का गोरखपुर में स्वागत एवं असहयोग आन्दोलन में भाग लेने के लिए औपचारिक ष्ठिक्षा एवं विद्यालय का परित्याग		1920 ई.
4.	चौरीचौरा काण्ड में सहयोग, ष्ठिनाख्त के अभाव में बरी		1922 ई.
5.	महाराणा प्रताप ष्ठिक्षा परिषद् की स्थापना		1932 ई.
6.	योग दीक्षा	15 अगस्त	1933 ई.
7.	गोरखनाथ मन्दिर में महन्त पद पर अभिषेक	श्रावण पूर्णिमा, 15 अगस्त	1935 ई.
8.	हिन्दू महासभा की सदस्यता		1939 ई.
9.	अखिल भारतवर्षीय अवधूत भेष बारहपन्थ योगी महासभा की स्थापना		1939 ई.
10.	डॉ. ष्ठयामा प्रसाद मुखर्जी की अध्यक्षता में प्रान्तीय हिन्दू महासभा अधिवेष्ठान का गोरखपुर में ऐतिहासिक आयोजन		1944 ई.
11.	गाँधी हत्याकाण्ड में मिथ्या आरोप में बन्दी		1948 ई.
12.	दस महीने बाद आरोप से ससम्मान बरी		1949 ई.
13.	श्रीरामजन्मभूमि मुक्ति आन्दोलन का नेतष्ठव		1949 ई.
14.	पष्ठक पंजाबी सूबे के लिए मास्टर तारा सिंह के आमरण अनष्ठान का सूझबूझ से समापन कराना		1956 ई.
15.	गोरखपुर विष्ठवविद्यालय गोरखपुर की स्थापना		1958 ई.
16.	अखिल भारतीय षड्दर्ष्ठन सभा सम्मेलन हरिद्वार की अध्यक्षता		1960 ई.
17.	अखिल भारतीय हिन्दू सम्मेलन का दिल्ली में आयोजन		1961 ई.
18.	अखिल भारतीय हिन्दू महासभा के राष्ट्रीय अध्यक्ष (हिन्दू राष्ट्रपति) के रूप में निर्वाचन		1961 ई.
19.	महन्त जी द्वारा दिल्ली में अखिल विष्ठव हिन्दू सम्मेलन का आयोजन		1965 ई.
20.	गोरखपुर के सांसद निर्वाचित		1967 ई.
21.	चिर समाधि	28 सितम्बर	1969 ई.

चरैवेति! चरैवेति!

वैदिक ग्रन्थ 'ऐतरेय ब्राह्मण' के 'चरैवेति! चरैवेति!' ष्ठीर्षक मंत्र युगपुरुष महन्त दिग्विजयनाथ जी महाराज के जीवन में साक्षात् दिखता है। इन मंत्रों का मूल स्वरूप और सहज-सरल भावानुवाद यहाँ प्रस्तुत है-

नानाश्रान्ताय श्रीरस्ति इति रोहित ष्ठुश्रुम।
पापो नष्ठद्वरो जन इन्द्र इच्चरतः सखा॥ **चरैवेति! चरैवेति!**

भावार्थ : (हरिष्ठचन्द्र के पुत्र रोहित को उपदेष्ठा करते हुए इन्द्र कहते हैं) हे रोहित! हम ऐसा सुनते हैं कि श्रम करने से जो नहीं थका है, ऐसे मनुष्य को श्री की अथवा ऐष्ठवर्य और वैभव की प्राप्ति होती है। बैठे हुए आलसी आदमी को पाप धर दबाता है। इन्द्र उसका ही मित्र है, जो बराबर चलता रहता है। इसलिए चलते रहो! चलते रहो!

पुष्पिण्यौ चरतो जंघे भूष्णुरात्मा फल ग्रहिः।
ष्ठेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः॥ **चरैवेति! चरैवेति!**

भावार्थ : जो मनुष्य चलता रहता है, उसकी जांघों में फूल फूलते हैं। उसकी आत्मा भूषित और ष्ठोभित होकर फल प्राप्त करती है। ऐसे चलने वाले परिश्रमी व्यक्ति के सारे पाप थककर सोये रहते हैं। इसलिए चलते रहो! चलते रहो!

आस्ते भग आसीनस्य ऊर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
ष्ठेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः॥ **चरैवेति! चरैवेति!**

भावार्थ : बैठे हुए का सौभाग्य बैठा रहता है और खड़े होने वाले का सौभाग्य उठकर खड़ा हो जाता है। पड़े रहने वाले का सौभाग्य सोता रहता है और उठकर चलने वाले का सौभाग्य चल पड़ता है। इसलिए चलते रहो! चलते रहो!

कलिः ष्ठयानो भवति संजिहानस्तुः द्वापरः।
उत्तिष्ठस्त्रेता भवति कष्ठं सम्पद्यते चरन्॥ **चरैवेति! चरैवेति!**

भावार्थ : सोने वाले का नाम कलियुग है, अंगड़ाई लेने वाला द्वापर है, उठकर खड़ा होने वाला त्रेता है और चलने वाला सतयुगी होता है। इसलिए चलते रहो! चलते रहो!

चरन्वै मधु विन्दति चरन्स्वादुमुदम्बरम्।
सूर्यस्य पष्ठय श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्॥ **चरैवेति! चरैवेति!**

भावार्थ : चलता हुआ मनुष्य ही मधु (अमष्ठ) प्राप्त करता है। चलता हुआ मनुष्य ही स्वादिष्ट फलों को चखता है। सूर्य के परिश्रम को देखो, जो नित्य चलता हुआ कभी आलस्य नहीं करता। इसलिए चलते रहो! चलते रहो!

युगपुरुष ब्रह्मलीन महन्त दिग्विजयनाथ स्मृति व्याख्यानमाला-९
२७ अगस्त से ०२ सितम्बर, २०१५
उद्घाटन - २७ अगस्त, २०१५, गुरुवार

अध्यक्ष : **प्रो. अशोक कुमार**
कुलपति, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

मुख्य अतिथि : **न्यायमूर्ति मा. शम्भूशरण श्रीवास्तव**
अवकाश प्राप्त, न्यायाधीश, उच्च न्यायालय, इलाहाबाद, उ.प्र., लोकायुक्त छत्तीसगढ़

मुख्य वक्ता : **प्रो. यू. पी. सिंह**
पूर्व कुलपति, वीर बहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय, जौनपुर

व्याख्यान

२८ अगस्त २०१५

नैनो प्रौद्योगिकी के विविध आयाम
डॉ. सत्यपाल सिंह
मदन मोहन मालवीय प्रौद्योगिकी वि.वि. गोरखपुर

भारत में स्त्री का साम्पत्तिक अधिकार: प्राचीन से लेकर वर्तमान तक
डॉ. टी.एन. मिश्रा
प्राचार्य, रेडिएन्ट कालेज ऑफ ला, मानबेला, गोरखपुर

२९ अगस्त २०१५

पुस्तक कैसे पढ़ें
डॉ. वेद प्रकाश पाण्डेय
पूर्व प्राचार्य, किसान पी.जी. कॉलेज सेवरही (कुशीनगर)

'एम्स' : क्यों और किसको
डॉ. राज किशोर सिंह
बी.आर.डी. मेडिकल कालेज, गोरखपुर

३० अगस्त २०१५

पूर्वी उत्तर प्रदेश का आर्थिक विकास.....
डॉ. सतीश द्विवेदी
एसोसिएट प्रोफेसर बुद्ध पी.जी. कॉलेज, कुशीनगर

भारतीय चिकित्साशास्त्र का उद्भव एवं विकास
डॉ. दिनेश सिंह
वरिष्ठ आयुर्वेद चिकित्सक, गोरखपुर

३१ अगस्त २०१५

भारतीय मीडिया : नई सदी, नया परिप्रेक्ष्य
डॉ. योगेन्द्र प्रताप सिंह
एसो. प्रोफेसर, डी.ए.वी. कॉलेज, कानपुर

संचार सिद्धान्त का व्यावहारिक उपयोग एवं महत्व
डॉ. ए.के. सिंह
अध्यक्ष, पत्रकारिता एवं जनसंचार संस्थान छत्रपति शाहू जी महाराज वि.वि., कानपुर

०१ सितम्बर २०१५

भक्तिकाल का लोकजागरण
डॉ. आद्या प्रसाद द्विवेदी
पूर्व संकायाध्यक्ष, वी.ब. सिंह, वि.वि. जौनपुर

राष्ट्रीय सुरक्षा : वर्तमान चुनौतियाँ
डॉ. विजेन्द्र सिंह
विभागाध्यक्ष, रक्षा एवं स्त्रातजिक अध्ययन, सकलडीहा पी.जी. कालेज, सकलडीहा, चन्दौली

समारोप - ०२ सितम्बर, २०१५, बुधवार

अध्यक्ष : **प्रो. राम अचल सिंह,**
पूर्व कुलपति, राम मनोहर लोहिया अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद
पूर्व अध्यक्ष, उच्चतर शिक्षा सेवा आयोग, उत्तर प्रदेश

मुख्य अतिथि : **प्रो. सी.बी. सिंह**
पूर्व अध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग
दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

सम्पादकीय

'ज्ञान' और 'विवेक' के कारण ही मनुष्य अन्य प्राणियों से अलग रचना-संसार का स्वामी है। 'ईश्वर' की सृष्टि में मनुष्य ने विजेता भाव से एक तरफ अपनी दुनिया बसायी, अपने गाँव और नगर बसाये, लौकिक सुखों का संसार बनाया तो दूसरी तरफ दुनिया के विध्वंस का साजो-सामान भी तैयार किया। ऊँची अट्टालिकाएँ, स्वप्नदर्शी स्वर्गलोक जैसे उसे सजाने-सवाँरने के सामान, चकाचौंध करने वाले विद्युत ऊर्जा की खोज, आणविक क्षमता का विकास और फिर अन्तरिक्ष की सैर करने वाले मानवरहित विमान का निर्माण, यह सब कुछ मानव की प्रकृति पर विजय की दिशा में बढ़ते कदमों की आहट ही तो है। दूसरे लोक की खोज की गुत्थी सुलझाने, गॉड पार्टिकल खोज लेने, चन्द्रमा-मंगल पर मानव बस्तियाँ बसाने में बुद्धि और कौशल को खपा देने वाले तथा मानव क्लोन तैयार कर लेने वाले मनुष्य की ताकत को आज कौन नकार सकता है। इक्कीसवीं सदी के विश्व भर में प्रकृति पर विजय पा जाने के दम्भ में चूर मानव को इस मुकाम तक पहुँचाने का श्रेय आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के शिक्षण संस्थाओं को ही तो है। ऐसे में यदि आज की 'शिक्षा प्रणाली' पर मानव इतराये तो आश्चर्य कैसा? भारत भी दुनिया के मंच पर अपनी उपस्थिति दमदारी से दर्ज करा रहा है। भारत के उच्च तकनीकी शिक्षण संस्थाओं से निकलने वाली प्रतिभाओं का लोहा दुनिया मान रही है। कम्प्यूटर सॉफ्टवेयर के क्षेत्र में, आणविक ऊर्जा के क्षेत्र में, अन्तरिक्ष के क्षेत्र में भारतीय मेधा अगले मोर्चे पर डटी है।

किन्तु ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में उच्च शिक्षण संस्थानों की उपलब्धियों का यह एक पहलू है। प्रकृति पर विजय पाने और उपलब्धियों की असीमित इच्छाओं को प्रोत्साहित करने की दिशा में सक्रिय शिक्षण संस्थाएँ मानव को 'मनुष्य' बनाने के अपने मूल कर्तव्य से च्युत हो गयीं। हम क्या हैं? क्यों जन्मे? मृत्यु के बाद क्या होगा? जन्म-पुनर्जन्म का सच क्या है? व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र, विश्व के प्रति एक सूत्रता क्या है, रिश्ते क्या हैं? सेवा, परोपकार, परहित, सत्य, अपरिग्रह, अस्तेय आदि भारतीय जीवन मूल्य आधुनिक शिक्षण संस्थानों के लिए आज निरा बकवास है। भारतीय जीवन के मूल उद्देश्य पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की बात करना आज साम्प्रदायिकता का पर्याय हो गया है। संस्कृति और संस्कार जैसे विषय आधुनिक शिक्षा के लिए बीते युग की बात हैं, उनकी प्रगतिशील भाषा में पुरातनपन्थी विचारधारा का हिस्सा है। 'धर्म' और 'सदाचार' की बात 'सेकुलरवाद' के खिलाफ है, अतः गैर संवैधानिक है। परिणामतः परम्परागत उच्च शिक्षण संस्थान राजकीय उपेक्षा के शिकार बने हैं तथा सामाजिक-मानविकी विषयों के अध्ययन को 'अनुत्पादक' घोषित कर उन्हें समाप्त करने पर बुद्धिजीवी आमादा दिख रहे हैं।

उपर्युक्त परिस्थितियों में महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् द्वारा हिन्दुत्व अर्थात् भारतीय संस्कृति को केन्द्र में रखकर शिक्षण संस्थानों का संचालन, अपने इन शिक्षण संस्थानों के माध्यम से भारत की युवा पीढ़ी में भारतीय संस्कृति के प्रति गौरवबोध पैदा करना, धर्म की भारतीय अवधारणा से उन्हें परिचित कराना, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का बोध पैदा करना आदि राष्ट्रीय एकता-अखण्डता के प्रति संकल्पित भावी पीढ़ी तैयार करने की दिशा में अथक प्रयास का साक्षी है। महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् द्वारा संचालित शिक्षण संस्थाओं को यह दिशा महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् के

संस्थापक एवं संचालक मनीषियों की सोच तथा दृष्टि से ही प्राप्त हुई एवं प्राप्त हो रही है। उल्लेखनीय है कि महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् गोरखपुर के संस्थापक गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त दिग्विजयनाथ जी महाराज युगपुरुष थे; क्योंकि उन्हें काल और दूरी बाँध नहीं सकी। वे कर्मयोगी थे क्योंकि जय-पराजय की वगैर चिन्ता किये उन्होंने सम्पूर्ण जीवन समाज और राष्ट्र के हित में अर्पित कर दिया। वे कर्म-संन्यासी थे क्योंकि जो कुछ भी अपनी तपस्या अथवा कर्म से अर्जित किया उसे राष्ट्र एवं समाज को अर्पित कर दिया। शिक्षा, राजनीति, धर्म एवं संस्कृति सहित सामाजिक परिवर्तन की क्रान्ति के वे अग्रणी धर्मनेता बने। उनके द्वारा व्यवस्था-परिवर्तन की निरन्तर जलने वाली जो लौ प्रज्ज्वलित की गयी वह आज भी गोरक्षपीठ के उनके यशस्वी उत्तराधिकारियों के माध्यम से समाज का मार्ग प्रशस्त कर रही है।

महाराणा प्रताप स्नातकोत्तर महाविद्यालय, जंगल धूसड़ की स्थापना गोरक्षपीठ के शैक्षिक क्रान्ति की दिशा में अनवरत चलने वाले अभियान की ही एक कड़ी है। वस्तुतः महानगर से सटे किन्तु महानगरीय कोलाहल से दूर जंगल धूसड़ में स्थित महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् द्वारा संचालित यह महाविद्यालय इस क्षेत्र के उच्च शिक्षा पाने वाले छात्र-छात्राओं के लिए वरदान सिद्ध हो रहा है। ऐसे में महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् के संस्थापक युगपुरुष महन्त दिग्विजयनाथ जी महाराज के प्रति राष्ट्र-समाज के साथ-साथ इस महाविद्यालय परिवार के हम सभी सदस्य अत्यन्त ऋणी एवं कृतज्ञ हैं। अपनी कृतज्ञता को भावाभिव्यक्ति देने एवं ब्रह्मलीन महाराज जी की इच्छाओं के अनुरूप भावी पीढ़ी को भारत-केन्द्रित अद्यतन ज्ञान-विज्ञान से परिचित कराने हेतु सत्र 2007-08 से प्रति वर्ष सत्रारम्भ (अगस्त माह) में ही सप्त दिवसीय **'युगपुरुष ब्रह्मलीन महन्त दिग्विजयनाथ स्मृति व्याख्यान-माला'** का आयोजन किया जाता है। सत्र 2015-2016 में 27 अगस्त से 2 सितम्बर तक युगपुरुष ब्रह्मलीन महन्त दिग्विजयनाथ स्मृति व्याख्यान-माला आयोजित की गयी। व्याख्यान-माला के अति महत्त्वपूर्ण व्याख्यान एवं कुछ महत्त्वपूर्ण आलेख, शोध पत्र आदि को प्रति वर्ष महाविद्यालय 'विमर्श' नामक पत्रिका में प्रकाशित करता है। 'विमर्श-2007' की शृंखला में 'विमर्श-2015' आपके हाथ में है। हमें विश्वास है कि यह पत्रिका सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के वैचारिक अभियान में तो सहायक सिद्ध ही होगी, तथापि नवीन शोधों को प्रोत्साहित करने, नये शोधों से पाठकों को परिचित कराने तथा महाविद्यालय के शिक्षकों-विद्यार्थियों में नित-नूतन शोध के प्रति अभिरुचि पैदा करने के लिए प्रेरणादायी सिद्ध होगी।

युगपुरुष ब्रह्मलीन महन्त दिग्विजयनाथ स्मृति व्याख्यानमाला में अपने शोधपूर्ण व्याख्यान देने वाले विद्वत्जनों के प्रति महाविद्यालय परिवार कृतज्ञ है, जिनके शोधपूर्ण व्याख्यानों से महाविद्यालय के प्राध्यापक, छात्र-छात्राओं के प्रज्ञा-सम्पन्न होने में गति प्रदान हुई है। 'विमर्श 2015' के प्रकाशन में सभी प्रकार के सहयोग करने वाले एवं सभी शुभचिन्तकों के प्रति भी हम हार्दिक आभारी हैं। हमें विश्वास है कि 'विमर्श' को प्रतिवर्ष प्रकाशित करने में हमें ऐसे ही सभी का सहयोग प्राप्त होता रहेगा।

भाद्रपद, शुक्ल द्वादशी
विक्रम सम्वत्-2072
(11 सितम्बर, 2015)

(प्रदीप कुमार राव)

अनुक्रम

1.	भारतीय ष्ठिाक्षा पद्धति और ब्रह्मलीन महन्त.....	महन्त अवेद्यनाथ	13
2.	महाराणा प्रताप	डॉ. प्रदीप कुमार राव	19
3.	नाथ सम्प्रदाय : उद्‌भव और विकास	सुबोध कुमार मिश्र	29
4.	चौरासी नाथ सिद्ध पुरुष एवं नवनाथ	ष्ठालिनी चौधरी	39
5.	सेकुलरिज्म बनाम सर्वधर्म समभाव	प्रो. सतीष्ठा चन्द्र मित्तल	62
6.	वैचारिक स्वतंत्रता की ओर	ष्ठांकर ष्ठारण	70
7.	विदेष्ठी आक्रमणों का भारतीय प्रतिरोध	छगनलाल वोहरा	90
8.	भूदान आन्दोलन की सफलता का मूल्यांकन	डॉ. सुभाष चन्द्र ष्ठार्मा	105
9.	अरुणाचल प्रदेष्ठा की जनजातीय स्वास्थ्य परम्परा	योगेन्द्र पाल कोहली	110
10.	भारतीय राष्ट्रवाद : आध्यात्मिक अथवा धर्मनिरपेक्ष	डॉ. सुरेन्द्र कुमार विमल	114
11.	प्रखर राष्ट्रभक्त : विनायक दामोदर सावरकर	प्रो. रेखा चतुर्वेदी	119
12.	बौद्ध साहित्य में राजा की अवधारणा	डॉ. अजय कुमार मिश्र	135
13.	हिन्दू स्त्रियों का साम्पत्तिक अधिकार : अतीत.....	डॉ. टी.एन. मिश्र	142
14.	प्राचीन भारतीय उच्च ष्ठिाक्षा के आचार्य एवं	लोकेष्ठा कुमार प्रजापति	150
15.	समकालीन कथा साहित्य में स्त्री	डॉ. आरती सिंह	156
16.	कार्य-सन्तुष्टि : एक विष्ठलेषण	सुभाष कुमार गुप्ता	160
17.	पुस्तक पढ़ने की कला	डॉ. वेदप्रकाष्ठा पाण्डेय	170
18.	ग्राम्य-क लीसिया के कब्रिस्तान में.....	रोहिताष्ठव श्रीवास्तव	173
19.	जिला सहकारी बैंक : समस्याएँ एवं सुझाव	डॉ. नीरज कुमार सिंह	175
20.	Indian Economy Issues and Challenges	Purushottam Pandey	180
21.	Two-Dimensional Flow in Renal Tubule	Shrikant Mani Tripathi	198
22.	Decentralisation; Basic To Politiconomic...	Dr. D.D. Pattanaik	205
23.	The Growth of Ancient Indian Corporate	Babita Kumari	215

पुनर्पाठ

1.	पूज्य महन्त जी की अद्यतन लोकयात्रा	डॉ. प्रदीप कुमार राव	245
2.	वष्ठोत्तर भारत	डॉ. रमेष्ठा चन्द्र मजूमदार	287

ब्रह्मलीन महन्त दिग्विजयनाथ का चित्र

श्रद्धांजलि

भारतीय शिक्षा पद्धति और महन्त दिग्विजयनाथ

महन्त अवेद्यनाथ*

पूज्य गुरुदेव ब्रह्मलीन महन्त दिग्विजयनाथजी महाराज का जीवन भारतीय संस्कृति, धर्म, शिक्षा, संस्कार एवं आदर्श के लिए समर्पित था। समग्र हिन्दू जाति के लिए वे एक प्रकाश-स्तम्भ थे। वे बालारुण के रूप में देश के क्षितिज पर स्वर्णिम आभा विकीर्ण करते हुए उदित हुए और हिन्दू जाति एवं धर्म की रक्षा में तत्पर रहकर मध्याह्न के सूर्य के समान उन्होंने अपनी प्रतिभा के प्रखर आलोक से समग्र देश को आलोकित किया। आज वे स्मृतिशेष हैं। एक सच्चे कर्मयोगी की भाँति उनका व्यक्तित्व संघर्षों में विकसित हुआ था। धर्म, शिक्षा, समाज आदि राष्ट्र सेवा के विविध क्षेत्रों में उन्होंने जो ठोस रचनात्मक कार्य किये हैं, वे उनकी स्मृति को सजीव रखने के लिए पर्याप्त हैं। आधुनिक राष्ट्र-सेवकों का जब कभी सच्चा इतिहास लिखा जायेगा, युगपुरुष ब्रह्मलीन महन्त दिग्विजयनाथजी का नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित होगा, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। आधुनिक युग में राष्ट्र की सुप्त आत्मा को जागृत करनेवाले महापुरुषों की जो परम्परा सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, डॉ. विपिनचन्द्र पाल, बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय, वीर विनायक दामोदर सावरकर से होती हुई महामना पं. मदनमोहन मालवीय, सरदार पटेल और राजर्षि टण्डन तक निरन्तर चली आयी है, वे भी उसी की एक कड़ी थे। उन्होंने स्वतंत्रता संग्राम में एक वीर सेनानी के रूप में भाग लिया था। वे देश को अखण्ड रूप में स्वतंत्र देखना चाहते थे। वे हिन्दू संस्कृति के उन सभी तत्त्वों को सुसंगठित करना चाहते थे, जिन्हें हमारे ऋषियों, तपस्वियों, सिद्धों, धर्मनेताओं और महापुरुषों ने अपने को उत्सर्ग करके उपलब्ध और सुरक्षित किया था।

भारत में शिक्षा पद्धति का प्रश्न विकट हो गया है। भारतीय चिन्तकों ने अनेक बार प्रयास करके सुधार प्रस्तुत करना चाहा, किन्तु मूल प्रश्न का कोई सन्तोषजनक समाधान अब तक नहीं मिल पाया। महात्मा गांधी ने बेसिक शिक्षा प्रणाली का प्रचार किया, किन्तु धीरे-धीरे यह प्रणाली भी समाप्तप्राय हो चली है। जाकिर हुसेन समिति द्वारा किये गये इस दिशा के प्रयास दोषपूर्ण होने के कारण सफल नहीं हो सके। सन् 1967 में छागला समिति द्वारा राष्ट्रीय शिक्षा-नीति, शिक्षा प्रणाली सम्बन्धी विचार-विमर्श में युगपुरुष ब्रह्मलीन महन्त दिग्विजयनाथजी ने भी भाग लिया। उन्हें छागला

*गोरक्षपीठाधीश्वर, गोरक्षनाथ मन्दिर, गोरखपुर

समिति की रिपोर्ट राष्ट्रीय शिक्षा के अनुकूल नहीं ज्ञात हुई। उन्होंने कहा- "शिक्षा, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक, सामाजिक तथा आर्थिक विकास का एक प्रबल साधन है अत: राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली के विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जानी चाहिए, जो कि भारतवासियों में देश की प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति पर आधारित एक राष्ट्रीय व्यक्तित्व का विकास करे।" वर्तमान भारतीय शिक्षा पद्धति का वास्तविक दोष यह है कि वह मैकाले के 2 फरवरी, 1835 के कुख्यात मिनिट पर आधारित है, जिसका मुख्य उद्देश्य, उसी के शब्दों में, इस प्रकार था- "इस समय हमें एक ऐसा वर्ग बनाने का प्रयास करना चाहिए, जो हमारे तथा हमारे शासनाधीन करोड़ों लोगों के बीच द्विभाषिये का काम करे। ऐसे व्यक्तियों का वर्ग रक्त तथा रंग में तो भारतीय हो, किन्तु रुचियों, विचारों, नैतिकता तथा बुद्धि की दृष्टि से अंग्रेज हो।" लॉर्ड विलियम वैंटिंग ने सरकारी रूप में यह प्रस्ताव स्वीकृत कराया था कि "ब्रिटिश सरकार का मुख्य उद्देश्य भारतवासियों में यूरोपियन साहित्य तथा विज्ञान को बढ़ावा देना होना चाहिए और यह कि शिक्षा के लिए नियत सम्पूर्ण धनराशि का प्रयोग यथासम्भव केवल अंग्रेजी शिक्षा पर ही किया जाय।" भारत में अंग्रेजी शिक्षा को प्रारम्भ कराते समय मैकाले के मन में एक दूसरा लक्ष्य भी था- प्रत्येक भारतीय वस्तु को निकृष्ट ठहराना। उसी कुख्यात मिनिट के 9वें पैरे में उसने लिखा था- "मुझे उन (पूर्वी भाषाओं के समर्थकों) में से एक भी सदस्य ऐसा नहीं मिला जो इस बात से इनकार करता हो कि किसी एक उच्चस्तरीय यूरोपियन पुस्तकालय की एक आलमारी के एक खाने में जितना ज्ञान भरा होता है, उसकी तुलना में भारत तथा अरब का समूचा साहित्य कुछ भी नहीं होता।" पिछली सात पीढ़ियों में मैकाले की यह धारणा भारतवासियों के मस्तिष्क में निरन्तर इस प्रकार घर कर गयी कि आज वर्तमान शिक्षा पद्धति से गढ़ा गया अधिकांश भारतवासी हर भारतीय वस्तु को घटिया तथा हर पाश्चात्य वस्तु को उच्चकोटि का समझता है।

ऐसी परिस्थिति में शिक्षा के पुनर्निर्माण का आधारभूत लक्ष्य इस प्रक्रिया को नष्ट करना होना चाहिए और शिक्षा के माध्यम से हर सम्भव उपाय किया जाना चाहिए जिससे भारत की नयी पीढ़ियों के हृदय में से हीनता की यह भावना नष्ट हो सके तथा नवयुवकों में हमारे महान् देश की प्राचीन संस्कृति तथा सभ्यता पर आधारित एक राष्ट्रीय व्यक्तित्व का विकास हो सके। अब आवश्यकता इस बात की है कि राष्ट्रीय जागरूकता की वृद्धि तथा राष्ट्रीय एकीकरण एवं एकता के दृढ़ीकरण का उत्तरदायित्व शिक्षा संस्थाएँ संभालें। 14 जुलाई, 1964 को भारत सरकार के तत्कालीन शिक्षा मंत्री ने 17 सदस्यों का एक शिक्षा आयोग नियुक्त किया, जिसमें 6 विदेशी, 2 मुसलमान तथा शेष हिन्दी विरोधी सदस्य रखे गये थे। उसका उद्देश्य यह निर्धारित किया गया था कि वह सरकार को देश में शिक्षा के राष्ट्रीय ढाँचे के सम्बन्ध में अपना परामर्श दें तथा शिक्षा के विकास के सम्बन्ध में सामान्य सिद्धान्तों और नीतियों का निर्धारण करें। युगपुरुष ब्रह्मलीन महन्त दिग्विजयनाथजी महाराज ने कहा कि शिक्षा-समस्या के सम्बन्ध में अधिक अस्वाभाविकता इस बात में दिखाई पड़ती

है कि शिक्षा का पुनर्गठन तो किया जाना है, किन्तु हमारे बच्चों को दी जाने वाली शिक्षा के स्वरूप से सम्बन्धित मूल समस्या पर इस शिक्षा आयोग ने विचार ही नहीं किया। राष्ट्रीय अनेकता की बात पर अत्यधिक बल देकर इस आयोग ने जाने-अनजाने राष्ट्रीय सामाजिक संगठन को छिन्न-भिन्न करने की स्थिति में ला दिया। संसार में कोई भी बड़ा देश ऐसा नहीं है, जिसमें अल्पसंख्यक न रहते हों, किन्तु इन अल्पसंख्यकों के कारण इन राष्ट्रों का स्वरूप नहीं बदल जाता। इसलिए आज का यह बहुचर्चित मत मूलतः असत्य है कि भारत एक बहुधर्मी तथा बहुभाषी प्रदेश है।

शिक्षा आयोग ने धर्मनिरपेक्ष शब्द पर अनावश्यक बल दिया है। भ्रमपूर्ण अर्थों में प्रयुक्त यह शब्द बड़ा पवित्र माना जाने लगा है, जबकि वास्तव में इसका अर्थ बड़ा ही निम्न कोटि का है। 'न्यू इंग्लिश डिक्शनरी' के अनुसार सेक्यूलर या धर्मनिरपेक्ष शब्द का अर्थ है- धर्म से सम्बन्धहीनता तथा इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार इसका अर्थ है- जिनका धर्म अथवा अध्यात्म से किसी प्रकार का सम्बन्ध न होकर उसके सर्वथा विपरीत हो 'आध्यात्मिक अथवा दैवी के विपरीत, भौतिक।' इन परिभाषाओं से सिद्ध होता है कि भारत के संविधान में ऐसी कोई बात नहीं है जिसके बल पर हमारे संविधान के अन्तर्गत राजनीति-तंत्र पर इस धर्मनिरपेक्षता की छाप लगायी जा सके। इसके विपरीत संविधान के अनुच्छेद 25 में धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकार तथा इसके अधीन अन्य बातों का ध्यान रखते हुए सभी लोगों को स्वतंत्रतापूर्वक अपना धर्म मानने, तदनुसार आचरण करने तथा उसका प्रचार करने का अधिकार प्राप्त रहेगा। संविधान का अनुच्छेद 26 इस बात को और भी स्पष्ट कर देता है कि लोग अपने धार्मिक अधिकारों का किस प्रकार प्रयोग कर सकते हैं। संविधान के ये अनुच्छेद देश के राजनीतिक जीवन में धर्म को उसी प्रकार स्थान प्रदान करते हैं जैसे कि अन्य कोई भी आधुनिक संविधान। ऐसी परिस्थिति में धर्मनिरपेक्षता पर अनुचित बल देना शिक्षा आयोग के लिए सर्वथा अनुपयुक्त था। इसका यह कहना कि बहुधर्मी धर्मनिरपेक्षता राज्य के लिए किसी एक धर्म की शिक्षा की व्यवस्था करना व्यवहार्य न होगा, सर्वथा असंगत था क्योंकि देश की 90 प्रतिशत जनसंख्या किसी-न-किसी रूप में हिन्दू धर्म की अनुगामी है। शेष 10 प्रतिशत अल्पसंख्यक हैं और इन्हें इस बात का कदापि अधिकार नहीं दिया जा सकता कि वे इस देश की 90 प्रतिशत जनता के अधिकारों के विरुद्ध वीटो के रूप में अपने अधिकार का प्रयोग करें। अतः विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा पर कोई प्रतिबन्ध लगाना संविधान की भावनाओं का अनादर करना होगा। भारत के लिए यह कैसी दुःख की बात है कि देश में सभी ईसाई संस्थाएँ छात्रों को ईसाइयत पढ़ाने के लिए स्वतंत्र हैं और मुस्लिम संस्थाएँ अपने बच्चों को अपने धर्म की शिक्षा देती हैं, परन्तु हिन्दू छात्र-छात्राओं को अपने धर्म की शिक्षा देने तथा प्राप्त करने पर प्रतिबन्ध लगाया जा रहा है। यह कितना विडम्बनापूर्ण एवं हास्यास्पद तथ्य है। फलस्वरूप छात्र-छात्राओं में अनुशासनहीनता का, लक्ष्यहीनता का प्रादुर्भाव निर्बाध गति से हो रहा है। अतः शिक्षा के प्रारम्भिक चरण में सभी

विद्यार्थियों को वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, गीता तथा अन्य धर्मग्रन्थों की धार्मिक शिक्षा दी जाय, जिससे प्रबुद्ध नागरिकता ग्रहण करने पर उन्हें इस प्राचीन देश के भूतकाल की पृष्ठभूमि की पूरी-पूरी जानकारी हो सके।

शिक्षा आयोग के पैरा 8-48 तथा 8-49 में संस्कृत भाषा के अध्ययन को हतोत्साहित करने के प्रयास का युगद्रष्टा ब्रह्मलीन महन्त दिग्विजयनाथजी महाराज ने कड़ा विरोध किया। उनकी मान्यता थी कि संस्कृत समस्त ज्ञान तथा विज्ञान का वृहत् भण्डार है। इस देश के निवासी तब तक प्रथम श्रेणी के वैज्ञानिक नहीं बन सकते, जब तक वे संस्कृत में उपलब्ध प्राचीन भारतीय विज्ञान का सांगोपांग अध्ययन नहीं करते चाहे वह गणित हो या खगोल, ज्योतिष, आयुर्वेद, शल्यचिकित्सा, दर्शनशास्त्र, तर्कशास्त्र अथवा कोई अन्य विज्ञान। संस्कृत को अन्य प्राचीन ऐसी भाषाओं के समकक्ष रखना जिनका विज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं है, एक षड्यंत्र ही है। उनके अनुसार संस्कृत भारतीय भाषाओं और समस्त विज्ञान की जननी है। अतः इसका अध्ययन आरम्भ से ही समस्त छात्र-छात्राओं के लिए अनिवार्य कर दिया जाना चाहिए। भाषा के सम्बन्ध में पूज्य महन्त जी का मत था कि शिक्षुओं का मस्तिष्क अनेक भावों को सीखने योग्य होता है। शिक्षु जैसे-जैसे बड़ा होता है, वैसे-वैसे उसकी यह क्षमता कम होती जाती है। बालक की उम्र बढ़ने के साथ ही अन्य विषयों को सीखने की क्षमता का विकास होता है। अतः प्रारम्भिक काल में विज्ञान तथा एक से अधिक भाषाएँ सिखाने पर बल दिया जाना चाहिए। प्राथमिक कक्षाओं में छोटी-छोटी कहानियों के रूप में भाषाओं को तथा गणित के प्रारम्भिक सिद्धान्त और सामान्य ज्ञान के विषय पढ़ाये जाने चाहिए। जैसे-जैसे बालक की आयु बढ़ती जाय, वैसे-वैसे भाषाओं की पढ़ाई कम तथा वैज्ञानिक विषयों पर अधिक बल दिया जाना चाहिए। राष्ट्र-भाषा के रूप में हिन्दी, एक प्रादेशिक भाषा, एक अन्य भारतीय भाषा तथा अनिवार्य रूप से संस्कृत का अध्ययन कराया जाना चाहिए। यह कहना सर्वथा भ्रामक है कि अंग्रेजी पाश्चात्य ज्ञान के लिए एक झरोखा है। सारे यूरोप में आज अंग्रेजी भी वैसी ही एक विदेशी भाषा है जैसी हिन्दी। वहाँ स्पेनी, फ्रांसीसी, जर्मन तथा रूसी भाषाएँ ही प्रमुख हैं। यदि छात्रों को पाश्चात्य ज्ञान के किसी ऐसे माध्यम की आवश्यकता हो ही तो उन्हें अंग्रेजी के स्थान पर इन यूरोपियन भाषाओं में से किसी एक या दो भाषाओं को सिखाया जाना चाहिए। अतः यह कहना असत्य है कि अंग्रेजी की जानकारी के बिना हम वैज्ञानिक उन्नति नहीं कर सकते। रूस, चीन, जापान, जर्मनी, बल्गारिया, फ्रांस, इटली आदि अन्यान्य देशों में नवीनतम वैज्ञानिक-ज्ञान इन देशों की भाषाओं में ही निहित है। तो फिर भारत में कला, विज्ञान तथा ज्ञान को अर्जित करने के लिए अंग्रेजी की अनिवार्यता पर बल देना कहाँ तक युक्तिसंगत बात है। समस्या केवल वैज्ञानिक पुस्तकों की अपनी भाषाओं में अनुवाद की है। यदि जम्मू-कश्मीर के महाराजा रणवीर सिंह धर्मार्थ ट्रस्ट में नियुक्त 100 पण्डितों की सहायता से संस्कृत की सैकड़ों पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद करा सकते थे, और यदि हैदराबाद के निजाम स्व. उस्मान अली खाँ उस्मानिया विश्वविद्यालय के लिए प्राथमिक कक्षाओं से

लेकर स्नातकोत्तर कक्षाओं तक की समस्त पाठ्यपुस्तकों का उर्दू में अनुवाद करा सकते थे तो फिर कोई कारण नहीं कि भारत सरकार अपने विशाल साधनों के होते हुए संसार की विभिन्न भाषाओं की समस्त वैज्ञानिक पुस्तकों का हमारे छात्र-छात्राओं के लिए भारतीय भाषाओं में अनुवाद नहीं करा सकती। अतः हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषाएँ ही शिक्षा एवं शिक्षण की माध्यम बननी चाहिए।

युगपुरुष ब्रह्मलीन महन्त दिग्विजयनाथजी महाराज ने भारत में बालिकाओं की शिक्षा पर अपने स्पष्ट विचार व्यक्त किये हैं। उनकी मान्यता थी कि जब सारे यूरोप में उच्च कक्षाओं में सहशिक्षा न्यूनतम रखने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है तो इसके विपरीत भारत में उल्टी गंगा बहाने की रट लगाना दिग्भ्रमित राजनीतिज्ञों की ज्ञानशून्यता का ही परिचायक है। वास्तव में सहशिक्षा दस वर्ष तक हो और इससे अधिक आयु वाले युवक-युवतियों के लिए सभी प्रकार का शिक्षण अथवा प्रशिक्षण पृथक्-पृथक् किया जाना चाहिए। हमारे समाज का आधार ब्रह्मचर्य है और इसी कारण हमारे देश ने ज्ञान तथा सामाजिक आचार के क्षेत्र में उच्चतम स्थान प्राप्त किया। माध्यमिक स्तर से लेकर स्नातकोत्तर स्तर तक की सहशिक्षा समाज के आधार को ही नष्ट करने पर तुली हुई है। अतः हम अपने सामाजिक आचार को उच्च शिखर तक पहुँचाकर आध्यात्मिक, बौद्धिक एवं शारीरिक शक्ति का अर्जन तभी कर सकते हैं जब उच्च कक्षाओं में सहशिक्षा को समाप्त किया जाय। महिलाओं की शिक्षा जीवनोपयोगी होनी चाहिए। चिकित्सा, अध्यापन तथा ललित कलाओं के अध्ययन-अध्यापन में उन्हें प्रमुखता मिलनी चाहिए। नाचने एवं गाने जैसी निकृष्टतम कलाओं को पाश्चात्य संस्कृति के नाम पर यहाँ प्रचारित करने की कोई आवश्यकता नहीं है। भारत ने तो दार्शनिक उच्चतम कल्पनाओं के उत्कृष्ट रूपों को ही कला माना है। योग तथा आसन के प्रशिक्षण को प्रोत्साहित किया जाय ताकि देश के लोगों के मन के विचार उन्मूलित होकर नष्ट हों तथा लोग स्वस्थ एवं सशक्त बनें। महान् मनीषी एवं विचारक ब्रह्मलीन महन्त दिग्विजयनाथजी महाराज ने शिक्षा में धर्म को महत्त्वपूर्ण स्थान देने का निरन्तर आग्रह किया है। भारत-जैसे राष्ट्र में जहाँ धर्म और संस्कृति को सर्वत्र वरीयता दी जाती है, शिक्षा की प्रणाली धर्म और संस्कृति से अछूती हो, यह बात उन्हें सहन नहीं थी। इसी कारण उन्होंने धार्मिक संस्थानों को शिक्षा की व्यवस्था में प्रमुख रूप से सहयोग करने के लिए आग्रह किया। विद्यालयों के पाठ्यक्रम में धर्म के सार्वभौम सिद्धान्तों एवं आध्यात्मिक आदर्शों को विशेष स्थान दिलाने का भी उन्होंने विशेष आग्रह किया। इस सम्बन्ध में उन्होंने कुछ ठोस सुझाव दिये हैं। उनके अनुसार प्रत्येक धार्मिक संस्था में प्रतिदिन या सप्ताह में एक दिन उदार दृष्टिकोण एवं उच्च चरित्र वाले योग्य व्यक्तियों के प्रवचन की व्यवस्था होनी चाहिए। स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालय में प्रख्यात विद्वान् और धार्मिक नेता धर्म सम्बन्धी प्रवचन देने के लिए बुलाये जाने चाहिए। स्कूलों, कॉलेजों और विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में निर्धारित पुस्तकों मे धर्म के सार्वभौम सिद्धान्तों, मानव जीवन के आध्यात्मिक आदर्शों तथा विशेष रूप से भारतवर्ष के सभी धर्मों के सच्चे सन्तों-महात्माओं के जीवन और शिक्षाओं से सम्बद्ध पाठ समाविष्ट

होने चाहिए। सभी स्तर की शैक्षणिक संस्थाओं में अध्यापन करने वाले अध्यापक छात्र-छात्राओं के व्यक्तित्व में नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास पर बल दें। इसके अन्तर्गत एक संस्कृत पाठशाला होनी चाहिए, जिसमें सामान्य संस्कृत साहित्य और विशेष रूप से हिन्दू धार्मिक तथा दार्शनिक परम्पराओं के अध्ययन की व्यवस्था होनी चाहिए। नगरों तथा गाँवों में प्राचीन संस्कृत पाठशालाओं को लोकप्रिय बनाने एवं पुनर्व्यवस्थित करने के लिए सरकार को कदम उठाना चाहिए। प्रत्येक जिला केन्द्र में एक संस्कृत कॉलेज होना चाहिए जिसमें सांस्कृतिक महत्त्व के सर्वमान्य ग्रन्थों और भिन्न-भिन्न दार्शनिक परम्पराओं के महत्त्वपूर्ण अध्ययन की व्यवस्था के साथ-ही-साथ धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन, भारतवर्ष के सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विकास के इतिहास एवं अन्य सम्बद्ध विषयों के अध्ययन की व्यवस्था होनी चाहिए। सभी शिक्षा केन्द्रों में आदर्श चरित्र एवं आध्यात्मिक मनोवृत्ति वाले व्यक्तियों के निरीक्षण में छात्र-गृहों का संगठन किया जाना चाहिए। इन छात्रगृहों में रहने वाले विद्यार्थियों को थोड़े में निर्वाह करने, अध्ययन करने, आत्मनिर्भरता तथा आत्मविश्वास की भावना जागृत करने का अवसर प्रदान किया जाना चाहिए। उनका मत था कि सामान्य छात्र-छात्राओं को दलगत राजनीति के प्रभाव से मुक्त रहकर उन्मुक्त व्यक्तित्व एवं स्वतंत्र चिन्तन की विशिष्टताओं को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। अपनी इन उदात्त भावनाओं को मूर्तरूप देने के लिए ही पूज्य गुरुदेव ने सन् 1932 में महाराणा प्रताप शिक्षा परिषद् की स्थापना की, जिसके अन्तर्गत आज शिशु स्तर से लेकर स्नातकोत्तर स्तर की दर्जनों शिक्षण संस्थाएँ हिन्दू धर्म, संस्कृति एवं हिन्दी की सेवा में निरन्तर संलग्न हैं।

महाराणा प्रताप

डॉ. प्रदीप कुमार राव*

सजातो येन जातेन याति वंश्ाः समुन्नतिम्।
परिवर्तिनि संसारे मश्ाः को वा न जायते।।
सम्पदि यस्य न हर्षो, विपदिविषादो, रणे न भीरुत्वम्।
तं भुवनत्रय-तिलकं जनयति, जननी सुतं विरलम्।।

भारतीय इतिहास के विगत कुछ सहस्र वर्षों के कालखण्ड में स्वदेश्ा, स्वजाति और स्वधर्म के प्रति स्वाभिमान, अगाध प्रेम, अटूट निष्ठा, अदम्य साहस, अतुलनीय पराक्रम और अविस्मरणीय तथा अकल्पनीय उत्सर्ग-भावना के लिए यदि किसी एक राष्ट्र-नायक का नाम लेना हो तो निश्चय ही वह यश्स्वी नाम प्रातःस्मरणीय महाराणा प्रताप का होगा। वे राजपूती आन, बान और श्ान के ही नहीं हमारे जातीय गौरव और पराधीनता को स्वीकार न करने वाली अपराजेय भारतीय आत्मा के, चिरस्वतंत्रता के प्रतीक हैं। मातृभूमि के लिए त्याग और बलिदान की उनकी गौरवमयी गाथा आज भी हमारे लिए उतनी ही गौरवश्ालिनी, उतनी ही लोमहर्षक, उतनी ही जीवन्त और उतनी ही स्पश्णीय तथा प्रेरणादायिनी है जितनी अतीत में थी जब लोग यह कामना करते थे-

'माई एहड़ापूत जण, जेहड़ा राण प्रताप।'

और महाराणा प्रताप जैसा पवित्र-चरित्र पुत्र महारानी पद्मिनी और कर्णावती जैसी सती-साध्वियों के जौहर से पवित्र चित्तौड़ की धरित्री ही पैदा कर सकती थी। महाराणा प्रताप का जन्म राजस्थान की इसी वीर प्रसविनी मेवाड़ मेदिनी में 1597 वि. (9 मई, 1540 ई.) को महान् बाप्पारावल, परमवीर हम्मीर, निखात यश्स्तम्भ कुम्भा और मेवाड़-मुकुट राणा साँगा (संग्राम सिंह) के यश्स्वी सिसौदिया वंश्ा में हुआ था। प्रश्स्त प्रोद्भासित ललाट, वृश्भस्कन्ध, सिंहोरस्क, प्रचण्डोर्दण्ड, कर्णान्त-विश्रान्त विलोचन-श्री और ऊपर उठी हुई खाँड़े जैसी मूँछों वाला यह युवक श्ीघ्र ही अपनी साहसिकता, धीरता, वीरता और गम्भीरता से राजपरिवार और सामन्तों में ही नहीं अपनी प्रजा में भी सर्वाधिक लोकप्रिय हो गया। लेकिन राजलक्ष्मी ने राम की तरह फिर एक सूर्यवंश्ी राजकुमार से

* **प्राचार्य, महाराणा प्रताप पी.जी. कॉलेज, जंगल धूसड़, गोरखपुर**

छल किया। 28 फरवरी 1572 ई. को गोगुंदा में महाराणा उदय सिंह का स्वर्गवास हुआ। छोटी महारानी के प्रभाव में उन्होंने अन्त समय में कनिष्ठ पुत्र जयमाल को अपना उत्तराधिकारी बनाया। सर्वसमर्थ होने पर भी सामन्तों तथा प्रजाजनों में भी लोकप्रियता और अनुकूलता के बावजूद पितृभक्त प्रताप ने छोटे वर्गों का राजत्व स्वीकार कर पुनः मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम का उदाहरण प्रस्तुत किया। किन्तु अयोग्य उत्तराधिकारी भरत नहीं था। उसने प्रताप के लोकप्रिय प्रभविष्णु-जिष्णु व्यक्तित्व को अपने लिए बाधक मानकर उन्हें मेवाड़ ही छोड़ देने की आज्ञा दे दी। प्रताप ने पुनः राजीवलोचन राम की तरह 'बाप को राज बटाऊ को नाई' त्याग कर मातृभूमि से विदा ली। किन्तु मेवाड़ी प्रजा अयोध्या की प्रजा नहीं थी। सामन्तों के साथ ही उसने इस अन्याय को असह्य मानकर विद्रोह कर दिया और चूड़ावत सरदार कृष्ण सिंह ने जयमाल को बलात् गद्दी से उतारकर महाराणा प्रताप को राजगद्दी स्वीकार करने के लिए विवश कर दिया। यह घटना गोगुंदा में ही घटी। बाद में महाराणा प्रताप का विधिवत राजतिलक कुम्भलगढ़ में भी किया गया। यहाँ से प्रारम्भ होती है महाराणा प्रताप की धीरता, वीरता और गम्भीरता की परीक्षा तथा पौरुष एवं पराक्रम की चरितार्थता।

महाराणा उदय सिंह के समय से ही चित्तौड़ मुगलों के अधीन था। गद्दी पर बैठते ही प्रताप ने भीष्म जैसी प्रतिज्ञा की कि चित्तौड़ की पुनः स्वतंत्रता तक मेरे वंश का कोई भी व्यक्ति राजसी वेश-भूषा तथा खान-पान स्वीकार नहीं करेगा। हमारे सामने जो नगाड़ा बजता हुआ जाता था अब वह हमारी सेना के पीछे बजेगा। सितम्बर सन् 1572 ई. में अकबर की ओर से पहला सन्धि-प्रस्ताव लेकर जलाल खाँ कोरची प्रताप से मिला। दूसरा सन्धि-प्रस्ताव अम्बर के कुँवर मानसिंह द्वारा जून सन् 1573 ई. में आया। दो महीनों बाद तीसरा सन्धि-प्रस्ताव लेकर अकबर की ओर से अक्टूबर सन् 1573 में अम्बर नरेश भगवानदास स्वयं आया। उसकी भी विफलता के बाद दिसम्बर सन् 1573 में अकबर ने अपने नवरत्नों में एक कुशाल राजनीतिज्ञ राजा टोडरमल को भेजा। किन्तु इस वित्तविशेषज्ञ का भी पाशा चित्त नहीं पड़ा और हर कीमत पर अपनी स्वतंत्रता के लिए दृढ़-चित्त प्रताप से अपनी शर्तों पर यह भी सौदा नहीं कर सका। प्रताप यदि चाहते तो नाममात्र के लिए झुककर अकबर से ससम्मान सन्धि कर सुख और वैभव में आराम की जिन्दगी बिता सकते थे। किन्तु उनके समक्ष अपनी सुख-सुविधा से पहले मेवाड़ी कुर्बानी का इतिहास खड़ा हो जाता था। स्वधर्म, स्वदेश और स्वाभिमान की रक्षा के लिए चित्तौड़ में हुए तीनों शाके खड़े हो जाते थे। खानवा के मैदान में एक जीती हुई बाजी को रायसेन (ग्वालियर के निकट स्थित है) के अपने ही सामन्त सिल्लैदी की दगाबाजी से हार में बदलते देख रहे घायल राणा सांगा की तिलमिलाहट खड़ी हो जाती थी। यही नहीं जयमल और फत्ता के बलिदान और स्वयं अकबर द्वारा की गयी चित्तौड़ की विजय ललकारती हुई प्रत्यक्ष हो जाती थी और उसे दुर्लक्ष्य करना उनके जैसे शूरमा के लिए- **"एकान्त विध्वंसिषु मद्विधानाम्। पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु।।"** की नीति में आस्था रखने

वाले के लिए, **'कार्यं वा साधयेम, देहं वा पातयेम'** माननेवाले के लिए सम्भव ही था।

अकबर की महत्त्वाकांक्षा और अकबर की ही पहल पर किये गये सन्धिप्रयासों की विफलता के दारुण परिणाम से प्रताप पूर्णतः अवगत थे–

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं, जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय, युद्धाय कृत-निश्चयः।।
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ, लभन्ते युद्धमीदृशम्।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।।
भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा मास्यसि लाघवम्।।

तथा **'सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।'** जैसे गीता के वाक्य एक ज्वलन्त, उर्जस्वल प्रेरणा के रूप में उनके सामने थे और वर्तमान ही नहीं अतीत तथा अनागत के भी आर-पार देखते हुए उन्होंने स्वर्गादपि, मोक्षादपि गरीयसी जन्मभूमि पर बलिबलि जाने का, वन-वन स्वतंत्रता दीप लिये फिरने का रास्ता चुना। यह उनकी लोकप्रियता और प्रताप का ही प्रभाव था कि उनके वफादार सैनिकों तथा सामन्तों ने ही नहीं बिल्कुल भगवान् राम की तरह वनवासियों, गिरिवासियों ने भी उनके साथ ही कण्टकाकीर्ण मार्ग पर चलना, निछावर होना स्वीकार किया।

समझौता-वार्ताओं के भंग हो जाने पर तीन वर्षों तक प्रकट रूप से ष्शान्ति रही। किन्तु इस बीच भी भीतर ही भीतर दोनों ओर से कूटनीतिक तथा सामरिक तैयारियाँ निरन्तर चलती रहीं। 14 मार्च सन् 1576 को अकबर अजमेर आया और उसने हिन्दुत्व की एकमात्र स्वतंत्र दोधूयमान पताका को भी, हिन्दुआ सूर्य, मेवाड़ मुकुट राणा प्रताप को भी झुकाने की योजना को अन्तिम रूप दिया। 2 अप्रैल को योजनानुसार अम्बर के राजकुमार मानसिंह के सेनापतित्व में एक विष्शाल ष्शाही सेना ने राणा प्रताप के विरुद्ध कूच किया। सेना का पहला पड़ाव माण्डलगढ़ में पड़ा। अपने संख्याबल से महाराणा को आतंकित करने लिए दो महीनों तक सेना वहीं परेड करती रही। इस बीच प्रताप की सैनिक गतिविधियों की भी गुप्त सूचनाएँ ली जाती रहीं। फिर ष्शाही सेना ने माण्डलगढ़ से आगे बढ़कर नाथद्वारा से दस मील दूर खमनोर के पाष्शर्ववर्ती मेमिला नामक गाँव के पास डेरा डाला। प्रताप, ष्शाही सेना की माण्डलगढ़ में पहुँच का समाचार पाकर, पहले ही कुम्भलगढ़ से कूच कर गोकुण्डा आ गये थे और जब ष्शाही सेना ने आगे बढ़कर मेमिला में पड़ाव डाला तो प्रताप ने गोगुन्दा और खामनेर के बीच हल्दीघाटी के पास, जो सामरिक दृष्टि से अपने लिए लाभप्रद तथा सुरक्षित

और ष्ात्रु के लिए उतना ही हानिप्रद और असुरक्षित था, मोर्चा बाँधा। ष्ााही सेना में मानसिंह के अलावा बारहा के सैयद, गाजी खाँ बदख्ष्ाी, रावलूणकरण, कछवाहा जगन्नाथ, ख्वाजा ष्ियाबुद्दीन गुपोह, आसफ खाँ, माधोसिंह, मजाहिद बेग खँगार और मिहतर खाँ आदि ष्ाामिल प्रमुख व्यक्ति थे। प्रताप की सेना में प्रताप के साथ बड़ी सादड़ी का मानसिंह (मन्ना) झाला, प्रसिद्ध वीर जयमल्ल का पुत्र राठौड़ रामदास, ग्वालियर का राजा रामसिंह और उसका पुत्र ष्ालिवाहन, पठान हकीम खाँ सूर, भीलों का सरदार, मेरपुर का राणा पुंजा, भामाष्ााह और उसका भाई ताराचन्द ये प्रमुख लोग थे।

घाटी और खामनेर के बीच के ऊबड़-खाबड़ मैदान में जो बनास नदी तक आगे चला गया है, युद्ध 18 या 21 जून को आरम्भ हुआ। पहल महाराणा प्रताप ने की। उनका आक्रमण इतना प्रबल था कि थोड़ी ही देर में ष्ााही सेना के पैर उखड़ गये और वह युद्धस्थल से लगभग 10-12 मील दूर तक भागती चली गयी। उभयपक्ष की युद्ध की व्यूहरचना और लड़ाई का आँखों देखा हाल बताते हुए स्वयं मुगल इतिहासकार अलबदायूनी ने लिखा है- "जब मानसिंह और आसफ खान गोगुन्दा से 7 कोस पर दर्रे (घाटी) के पास सेना सहित पहुँचे तो राणा लड़ने को आया। ख्वाजा मुहम्मद रफी बदख्ष्ाी, ष्ियाबुद्दीन गुरोह, पायन्दा कज्जाक, अलीमुराद उजबक और राजा लूणकरण तथा बहुत से ष्ााही सवारों सहित मानसिंह हाथी पर सवार होकर मध्य में रहा और बहुत से प्रसिद्ध जवान पुरुष हरावल के आगे रहे। चुने हुए आदमियों में से 80 से अधिक लड़ाके सैयद हाष्िाम बारहा के साथ हरावल के आगे भेजे गये और सैयद अहमद खान बारहा दूसरे सैयदों के साथ दक्षिण पाष्ठर्व में रहा। ष्ोख इब्राहीम चिष्ठती के रिष्ठतेदार अर्थात् सीकरी के ष्ोखजादों सहित काजी खान वाम पाष्ठर्व में रहा और मिहतर खान चन्दावल (एकदम पीछे) की ओर। राणा कीका (प्रताप) ने दर्रे (हल्दी घाटी) के पीछे से 3,000 राजपूतों सहित आगे बढ़कर अपनी सेना के दो भाग किये। एक विभाग ने, जिसका सेनापति हकीमसूर अफगान था, पहाड़ों की तरफ से निकलकर हमारी हरावल (सबसे आगे की टुकड़ी) पर आक्रमण किया। भूमि ऊँची-नीची, रास्ते टेढ़े-मेढ़े और काँटों वाले होने के कारण हमारी हरावल में गड़बड़ी मच गयी जिससे हमारी हरावल की पूरी तौर से हार हुई। हमारी सेना के राजपूत, जिनका मुखिया रावलूणकरण था और जिनमें अधिकतर वाम पाष्ठर्व में थे, भेड़ों के झुण्ड की तरह भाग निकले और हरावल को चीरते हुए अपनी रक्षा के लिए दक्षिण पाष्ठर्व की तरफ दौड़े। इस समय मैंने जबकि मैं हरावल के खास सैन्य के साथ था, आसफ खान से पूछा कि ऐसी अवस्था में हम अपने और ष्ात्रु के राजपूतों की पहचान कैसे कर सकते हैं? उसने उत्तर दिया- तुम तो तीर चलाये जाओ, चाहे जिस पक्ष के आदमी मारे जावें, इस्लाम को तो उससे लाभ ही होगा। इसलिए हम तीर चलाते रहे और भीड़ ऐसी थी कि हमारा एक भी वार खाली न गया।

राणा की सेना के दूसरे विभाग ने जिसका नेता स्वयं राणा था, घाटी से निकल कर गाजी

खाँ की सेना पर जो घाटी के सिरे पर था, हमला किया और उसकी सेना का संहार करता हुआ उसके मध्य तक पहुँच गया। तब तो सबके-सब सीकरी के ष्ठोखजादे भाग निकले। परन्तु मुल्ला होने पर भी गाजी खाँ कुछ देर तो दष्ठ्तापूर्वक डटा रहा, किन्तु जब उसके दाहिने हाथ का अंगूठा कट गया, तब वह भी अपने सैनिकों के पीछे-पीछे भाग गया। ग्वालियर के राजा रामष्ठाह ने, जो सदैव राणा के आगे रहता था, मानसिंह के राजपूतों के विरुद्ध ऐसी वीरता दिखाई जिसका वर्णन लेखनी की ष्ठाक्ति से बाहर है। ये राजपूत (ष्ठाही सेना के) जो हरावल से बाएँ भाग खड़े हुए, जिससे आसफ खाँ को भी भागना पड़ा और उन्होंने दाहिने भाग के सैयदों की ष्ठारण ली। हरावल की भागी हुई सेना ने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी थी कि यदि इस अवसर पर सैयद लोग टिके नहीं रहते तो उससे अवष्ठय की हमारी अपमानजनक हार होती।"

"माधव सिंह के साथ लड़ते समय राणा पर तीरों की बौछार की गयी और हकीम सूर सैयदों से लड़ रहा था, भाग कर राणा से मिल गया। इस प्रकार राणा के सैन्य के दोनों विभाग एक जगह एकत्र हो गये। फिर राणा लौट कर पहाड़ों में जहाँ चित्तौड़ की विजय के बाद वह रहा करता था और जहाँ वह किले के समान सुरक्षित रहता था, भाग गया। प्रचण्ड ग्रीष्म के मध्य इस दिन गर्मी इतनी पड़ रही थी कि खोपड़ी के भीतर मगज भी उबला जाता था। ऐसे समय भी लड़ाई प्रात:काल से मध्याह्न तक चली। लगभग 500 आदमी खेत रहे जिनमें 120 मुसलमान और ष्ठोष 380 हिन्दू थे। 300 से अधिक इस्लाम के वीर घायल हुए। इस समय लू आग के समान चल रही थी। हमारे सैनिकों में चलने-फिरने की भी ष्ठाक्ति नहीं रही थी और सेना में यह भी खबर फैल गयी थी कि राणा छल के साथ पहाड़ के पीछे घात लगाये खड़ा होगा। इसी कारण हमारे सैनिकों ने राणा का पीछा नहीं किया।"

अलबदायूंनी ने अपने युद्धवष्ठ्त में बीच का हाथियों, राणाप्रताप तथा झाला के युद्धों का महत्त्वपूर्ण विवरण छोड़ दिया है। मेवाड़ी वीरों की मार से जब ष्ठाही सेना में भगदड़ मची तो वह बनास नदी के आगे 10-12 मील तक भागती ही चली गयी। तभी मिहतर खाँ ने यह हाँक लगायी कि अजमेर से खुद अकबर मदद के लिए आ गया है। इसको सुन भागती हुई सेना में कुछ हिम्मत बँधी और सैनिक फिर युद्ध के लिए तत्पर होकर आगे बढ़े। यहाँ से युद्ध ने दूसरे चरण में प्रवेष्ठा किया। हाथियों का युद्ध ष्ठुरू हुआ। मेवाड़ी सेना का गजराज 'लूना' मुगल सेना पर कहर ढा रहा था। हुसेन खाँ ने जो मुगल गजसेना का प्रमुख था, अब राणा की सेना की बाढ़ को रोकने के लिए अपने हाथियों को युद्ध में झोंक दिया। जमाल खाँ फौजदार ने मुगल दल के प्रसिद्ध 'गजमुक्ता' हाथी को 'लूना' से टक्कर लेने के लिए बड़े जोष्ठा से आगे बढ़ाया। प्रबल आक्रमण था किन्तु प्रतिरोध और प्रत्याक्रमण प्रबलतर साबित हुआ और 'लूना' की असह्य मार से घायल 'गजमुक्ता' अन्तत' भाग खड़ा हुआ। इसके बाद ही बन्दूक की गोली से 'लूना' का महावत मारा गया। बिना महावत

का 'लूना' फिर जिस तिस को रौंदते हुए एक तरफ निकल गया। फिर 'गजराज' पर सवार कमाल खाँ तथा 'रणमाँदर' पर सवार पंजू ने महाराणा को चेतक की तरह ही प्रिय और विख्यात हाथी 'रामप्रसाद' पर आक्रमण कर दिया। 'रामप्रसाद' अपने दोनों प्रतिद्वन्द्वियों को आक्रानत कर परास्त ही करने वाला था कि बन्दूक की गोली से उसका भी महावत खेत रहा। एक तीर मर्मस्थान पर हाथी को भी लगा और दोतरफा वार तथा तीर से घायल हाथी जमीन पर गिर पड़ा। तब ष्ठाही हाथी के महावत पंजू ने कमाल की फुर्ती से अपने हाथी पर से छलाँग लगायी और इसके पहले कि 'रामप्रसाद' सँभलता या प्रताप की सेना का कोई दूसरा महावत उसे सँभालता पंजू ने उसे हाँककर अपनी ओर कर लिया। इस हाथी को अकबर महाराणा से एक बार माँग चुका था जिसे उन्होंने अस्वीकार कर दिया था। बाद में अकबर ने इस हाथी को ससम्मान 'पीरप्रसाद' नाम से अपनी सेना में रखा।

इधर राजचिह्न के साथ चेतक पर आरूढ़ महाराणा अद्‌भुत पराक्रम से लड़ रहे थे। उन्हें सात घाव लगे थे। चेतक भी घायल हो चुका था। इतिहासकार के मतानुसार 'मष्ठों' के झुण्ड में भूखे ष्ठोर के समान महाराणा सजातीय ष्ठात्रु मुगल सेनापति मानसिंह को ढूँढ़ते हुए ष्ठात्रु सैन्य में कहर ढाते हुए निर्भय विचरण कर रहे थे। तभी उन्होंने देखा सरदारगढ़ का वीर भीम मुगल सेना को चीरता हुआ दूर गजारूढ़ मानसिंह के पास पहुँच गया। घोड़े की रिकाब पर खड़े होकर उसने बरछे से मानसिंह पर प्रहार किया। किन्तु मानसिंह फुर्ती से झुककर वार बचा गया। भीम घिर चुका था। तलवार से बीसियों को मौत के घाट उतारकर खुद भी वीरगति को प्राप्त हुआ। महाराणा ने यह दष्ठय देखा। चेतक को इष्ठारा किया और हर तरफ से बरसती तीरों-तलवारों की परवाह किये बिना वे ष्ठात्रु सेना के मध्य में भारी खतरे में व्यूहबद्ध मानसिंह के पास पहुँच गये। स्वामिभक्त चेतक ने भी महाराणा का आष्ठाय समझकर हाथी के मस्तक पर अगले दोनों पैर टिका दिये। राणा ने भाले से एक भरपूर वार किया। मानसिंह हौदे में दुबक गया था। वार से हौदे का पिछला खम्भा टूट गया। फिर महाराणा ने कटार से भी वार किया। उन्हें लगा निष्ठाना ठीक बैठा है। चेतक ने पैर नीचे किये। हाथी के दाँत में बँधी तलवार से उसकी एक टाँग बुरी तरह जख्मी हो गयी। राणा चौतरफा ष्ठात्रुओं से घिर चुके थे। प्रहार पर प्रहार झेल रहे थे। धरती लाष्ठों से पटती जा रही थी। हजारों से अकेले लड़ रहे थे। राणा तलवार से पराक्रम का महाकाव्य लिख रहे थे। कछवाहा माधोसिंह ने अपने घुड़सवारों के साथ राणा को जीवित या मष्ठ पकड़ने के लिए घेरा और तंग किया। अपने पराक्रम और रण-कौष्ठाल के लिए प्रसिद्ध बहलोल खाँ ने तब तक महाराणा के ष्ठिर को लक्ष्य कर एक जबर्दस्त प्रहार किया। किन्तु राणा का रण-कौष्ठाल भी जिससे उन्होंने मुकाबला किया- अद्‌भुत था। अगले ही क्षण एक ही वार में घोड़े सहित महाबली बहलोल जमींदोज था लेकिन महाराणा पर इस पराक्रम के बावजूद खतरा बढ़ता जा रहा था। युद्ध की हवा भी जो पहले उनके पक्ष में थी अब उनके विरुद्ध

बहने लगी थी। वे तीन बार ष्ठात्रुओं के घेरों को तोड़कर निकले किन्तु फिर-फिर घिर जाते थे। झाला सरदार मानसिंह ने आसन्न खतरे को पहचान लिया। हिन्दुआसूर्य खतरे में था। 'मेवाड़ की आष्ठा' खतरे में था। फिर तो राजपूत स्वभाव के पवित्रतम कष्टव्य का निष्ठचय करते उसे समय नहीं लगा। घोड़ा बढ़ाकर वह राणा के समीप पहुँचा और युद्ध में व्यस्त राणा कुछ समझें इसके पहले ही वह उनका राजचिह्न उतारकर स्वयं धारण कर मुगल सेना को अपनी ओर आकर्षित करता हुआ बगल में बढ़ चुका था। अब तक प्रताप के अनेक स्वामिभक्त सामन्त और सैनिक भी उनके पास पहुँच चुके थे। राजचिह्न हट जाने से उन पर प्रतिपक्ष का दबाव ढीला पड़ गया था। फिर भी राणा युद्ध-स्थल छोड़ने को तैयार नहीं थे। किन्तु हरीम खाँ सूर आदि ने चेतक का लगाम अपने हाथ में लेकर घाटी की ओर उसका मुँह मोड़ दिया। राणा युद्ध-स्थल से घाटी में सुरक्षित स्थान की ओर बढ़ रहे थे। उन्हें पहचान कर दो मुगल घुड़सवारों ने उनका पीछा किया। घायल स्वामिभक्त चेतक ने छलाँग लगाकर एक पहाड़ी नाला पार किया। किन्तु अब वह निढाल होकर वहीं गिर पड़ा। अपने अनन्य साथी, अनेक वीरकर्मों के साक्षी, महान् चेतक को अश्रुपूरित नयनों से महाराणा ने विदा दी। उसने स्वामी की गोद में ष्ठिार रखकर दम तोड़ दिया। सुरक्षित स्थान की ओर बढ़ते राणा के पीछे दो मुगल सवारों के साथ एक आदमी और लग गया था। यह महाराणा का छोटा भाई ष्ठाक्तिसिंह था। वह भी मुगलों की ओर से राणा के विरुद्ध लड़ने आया था। किन्तु प्रताप की देष्ठाभक्ति ने, उनके अतुलनीय साहस और पराक्रम ने तथा मुगलों के मेवाड़ तथा राणा विरोधी तानों ने उसकी आँखें खोल दी। खून ने जोर मारा। भायप जाग उठा। राणा का पीछा करने वाले दोनों मुगल सवारों को घात लगाकर उसने मार गिराया और लज्जित, पष्ठचातापयुक्त तथा क्षमाप्रार्थी की मुद्रा में सविनय राणा से जा मिला। विह्वल राणा ने उसे गले लगा लिया। राम और भरत के मिलाप के बाद इतिहास का यह दूसरा उदाहरणीय भ्रातष्टमिलन था। उधर युद्ध भी वीरवर झाला के उत्सर्ग के बाद समाप्त हो गया। इतिहास साक्षी है मुगलों की जीत संख्या और साधनों की जीत थी। वीरता और रणकुष्ठालता की दष्टि से प्रताप अपराजेय रहे। मौलाना मुहम्मद हुसेन आजाद ने इस बड़े भारी युद्ध का हाल बताते हुए लिखा है- "नमक हलाल मुगल और मेवाड़ के ष्ठूरमा ऐसे जान तोड़कर लड़े कि हल्दीघाटी के पत्थर ईंगुर हो गये.....(मेवाड़ियों की) यह वीरता ऐसे ष्ठात्रुओं के सामने क्या कर सकती थी जिसके साथ असंख्य तोपें और रहकले आग बरसाते थे और ऊँटों के रिसाले आँधी की तरह दौड़ते थे।" हल्दीघाटी का युद्ध निर्णायक युद्ध नहीं था। यह परिणामविहीन युद्ध अकबर की महत्त्वाकांक्षी और स्वदेष्ठा, स्वजाति औ स्वधर्म की स्वतंत्रता के स्वाभिमानी प्रताप के बीच लम्बे काल तक चलने वाली लड़ाई का प्रारम्भ ही था। प्रताप युद्ध-क्षेत्र से हटा था, हिम्मत नहीं हारा था। वह और दष्ठता तथा उत्साह से रणनीति बदलकर पहाड़ों में चला गया। भारवि ने ठीक ही लिखा है-

"परैरपर्यासितवीर्यसम्दां पराभवोप्युत्सव एव मानिनाम्।"

ष्ात्रु जिसके पराक्रम को नष्ट न कर सका हो ऐसे स्वाभिमानियों के लिए पराजय भी उत्सव है। प्रताप को परास्त और बन्दी न कर सकने के लिए अकबर ने मानसिंह की प्रताड़ना की। 23 जून को हल्दीघाटी के युद्ध के बाद मानसिंह ने गोगुन्दा को अपने अधिकार में ले लिया था। प्रताप की गतिविधियों का केन्द्र अब कोल्यारी था। सितम्बर सन् 1576 तक प्रताप ने गोगुन्दा पुनः हथिया लिया। 13 अक्टूबर सन् 1576 को अकब ने स्वयं गोगुन्दा के लिए कूच किया। हल्दीघाटी के अनुभव से राणा ने रणनीति बदल दी थी। अब वे छापामार युद्ध करते थे। उनकी सेना में अप्रष्ठिाक्षित भील ही अधिक थे। वे मैदानी लड़ाई के बजाए पहाड़ी लड़ाई ही कर सकते थे। हल्दीघाटी की हार का भी तात्कालिक कारण यही था। प्रारम्भ में जब तक लड़ाई पर्वतीय क्षेत्र में हुई राणा जीतते रहे। लेकिन जैसे ही भागती हुई मुगल सेना का पीछा कर उनकी सेना मैदानी हिस्से में पहुँची मैदानी युद्ध के अभ्यस्त घोड़े से वीर राजपूत विष्ठाल ष्ठााही सेना का भयंकर कल्पनातीत संहार करने के बाद भी देर तक सामना नहीं कर सके। बाकी तीर-कमान वाली भीलों की सेना, प्रष्ठिाक्षित तथा तोपखाने से लैस, विष्ठाल सेना से मैदान में भला क्या मुकाबला करती। अस्तु, अकबर आया। प्रताप ने उसे निर्विरोध गोगुन्दा जाने दिया। प्रताप को बन्दी बनाने के लिए उसने भगवन्तदास, भगवानदास और कुतुबुद्दीन आदि को सेना सहित भेजा; किन्तु, प्रताप किसी के हाथ नहीं लगा। उल्टे भीलों से अनेकत्र टक्कर में उन्हें धन-जन की क्षति उठानी पड़ी। निराष्ठा अकबर ने उस पर्वतीय प्रदेष्ठा की नाकेबन्दी कर दी ताकि प्रताप निकल न पाये। लेकिन उसकी यह योजना भी निष्फलवती रही। खीझ कर उसने प्रताप समर्थक बूंदी, सिरोही, डूंगरपुर और बाँसवाड़ा पर आक्रमण कर उन्हें जीत लिया। फिर भी अकबर को निराष्ठा ही लौटना पड़ा। प्रताप अब भी स्वतंत्र था और अकबर के जाते ही पहाड़ों से बाहर आकर मेवाड़ राज्य के उन सारे प्रदेष्ठों को जिन्हें अब की अकबर जीत गया था फिर अपने अधिकार में कर लिया। अभियान से लौटा अकबर अभी मेरठ में ही था कि राज्य की पुनर्विजय का समाचार उसे मिला। अबकी उसने ष्ठााहबाज खाँ को सेनापति बनाकर एक सेना फिर मेवाड़ भेजी। सैयद हाष्ठिाम, सैयद राजू, पायन्दा खाँ, मानसिंह और भगवानदास जैसे कई सेनानी साथ थे। लेकिन अकबर को लगा यह सेना कम है। उसने ष्ठोख इब्राहिम खाँ के नेतष्ट्व में एक और टुकड़ी भेजी। अविष्ठवास और मनमुटाव के कारण बाद में ष्ठााहबाज खाँ ने भगवानदास और मानसिंह को बीच रास्ते से वापस कर दिया। 5 जून 1578 ई. को ष्ठााहबाज खाँ ने कुम्भलगढ़ पर हमला किया। प्रताप इन दिनों यहीं थे। पर्याप्त रसद और पेयजल-संकट के कारण प्रताप ने किला छोड़ दिया। किले के अन्दर की प्रजा भामाष्ठााह के साथ मालवा चली गयी। कुम्भलगढ़ को जीतता हुआ ष्ठााहबाज खाँ गोगुन्दा और उदयपुर तक चला गया। अकबर की आँखों में चढ़ने के लिए उसने प्रताप को घेरने और बन्दी बनाने की बड़ी कोष्ठिाष्ठा की किन्तु निष्फल रहा। प्रताप इस समय चूलिया में थे। बराबर संघर्ष से उत्पन्न साधनहीनता में वन-वन घूमते हुए स्वतंत्रता की अलख जगा रहे थे।

'जो हठि राखै धर्म को तिहि राखै करतार।' उक्ति चरितार्थ हुई। प्रताप की तपस्या पूरी हुई। भामाष्ठाह ने आर्थिक सहायता ला दी। फिर साधन मिला। सैन्य-संघटन हुआ और प्रताप ने हमला कर दिवेर के ष्ठाही थाने पर अपना अधिकार कर लिया। फिर हमीरसर और कुम्भलगढ़ भी सन् 1578 में ही जीत लिये। इसे ही अपनी पर्वतीय राजधानी बनाकर उन्होंने फिर गोगुन्दा, उदयपुर, छप्पन पहाड़ियाँ, जावर और वाडाण के पर्वतों पर पुनः अधिकार किया। आगे चावण्ड पहुँचकर उन्होंने सब प्रकार से अपने लिए सुरक्षित समझकर उसे ही मेवाड़ की नयी राजधानी बनाया। इधर से निष्ठिचन्त होकर उन्होंने चन्द्रसेन की सहायता से डूँगरपुर और बाँसवाड़ा को भी जिसे अकबर जीत गया था अपने अधिकार में ले लिया।

प्रताप की निरन्तर सफलताओं के समाचार से अकबर बौखला गया। उसने दिसम्बर सन् 1578 में ष्ठाहबाज खाँ को फिर भेजा। जून सन् 1579 में प्रताप ने प्रत्याक्रमण कर उसकी उपलब्धियों को व्यर्थ कर दिया। नवम्बर सन् 1579 में ष्ठाहबाज खाँ ने फिर हमला किया जिसे सन् 1580 में प्रताप ने पुनः प्रत्याक्रमण कर निष्फल कर दिया। ष्ठाहबाज खाँ खाली हाथ लौटा। नाराज अकबर ने कविवर रहीमदास खानखाना को अजमेर का सूबेदार बनाकर भेजा और प्रताप को पकड़ने या परास्त करने की जिम्मेदारी दी। रहीमदास इसके पूर्व भी अकबर और ष्ठाहबाज खाँ के साथ प्रताप के विरुद्ध अभियानों में आ चुके थे। अजमेर से कूच कर उन्होंने ष्ठोरपुरा में डेरा डाला। प्रताप के पुत्र अमरसिंह ने अचानक हमला कर दिया। खानखाना के साथ की सारी सेना अप्रत्याष्ठित आक्रमण से तितर-बितर हो गयी। खजाना और खानखाना का परिवार भी अमरसिंह के हाथ लगा। पता चलते ही प्रताप ने खानखाना की बेगम को ससम्मान मुगल खेमे में वापस कर दिया। राणा की इस चारित्रिक महानता से कवि रहीमदास पर ऐसा असर हुआ कि फिर उसने राणा के विरुद्ध अपना हथियार ही नहीं उठाया। प्रताप के विरुद्ध फिर अकबर ने जगन्नाथ कछवाहा के नेतष्ठ्व में दिसम्बर सन् 1584 में एक सेना भेजी। अपने अभियानों में निष्फल यह सेना भी सन् 1587 ई. में निराष्ठा होकर वापस चली गयी। इसके बाद मुगलों ने फिर इधर प्रताप के विरुद्ध अभियान की हिम्मत नहीं की। अब तक अपने निरन्तर संघर्षों से राणा प्रताप ने उतना सारा राज्य फिर से अपने अधिकार में कर लिया था जितना उत्तराधिकार में उन्हें मिला था और अकबर तथा उसके सेनापतियों ने प्रताप से जितना कुछ जीता था क्रमष्ठाः सब खो दिया। युद्ध से विश्राम पाते ही प्रताप ने अपनी रचनात्मक तथा प्रष्ठासकीय प्रतिभा को भी प्रमाणित किया। युद्ध में साथ रहे, काम आये वीरों एवं उनके परिवारों का सम्मान किया गया, उन्हें जागीरें दी गयीं। ग्राम्य और नगर जीवन जो युद्धों के कारण अस्त-व्यस्त हो गया था फिर से व्यवस्थित किया गया। नयी राजधानी चावण्ड की भूमि बड़ी उर्वर थी। मालवा और गुजरात के व्यापारिक केन्द्र पास थे। फलतः कष्ठि और वाणिज्य की प्रचुर उन्नति हुई। उस समय बने दुर्ग और महल भी स्थापत्यकला के सुन्दर उदाहरण हैं। कमलनाथ, उबेष्ठवर, चावण्ड और

जावर आदि स्थानों की स्थापत्यकला दर्शनीय है। महाराणा स्वयं भी कवि थे। तत्कालीन 'पद्मिनी-चरित्र' और 'दुरसा आहड़ा' उत्कृष्ट साहित्यिक कृतियाँ हैं। चित्रकला की भी उस समय बड़ी उन्नति हुई। 'चावण्ड-चित्र शैली' के चित्र जो संग्रहालयों में अब भी सुरक्षित हैं, कई दृष्टियों से उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार युद्ध और शान्ति दोनों कालों में यशस्वी जीवन जीकर महामनस्वी महाराणा ने उत्तराधिकारी तथा सामन्तों को जातीय गौरव की रक्षा की शपथ दिलाकर माघ सुदी एकादशी 19 जून सन् 1597 ई. को कुल 57 वर्ष की अवस्था में भौतिक देह छोड़ दी। प्रताप का यशः शरीर आज भी अक्षत है। वह एक ऐसे इतिहास पुरुष हैं जिनसे पीढ़ियाँ प्रेरणा लेती रहेंगी। चावण्ड से डेढ़ मील दूर बडौली गाँव के पास महाराणा की अन्त्येष्टि की गयी। वहाँ उनकी स्मृति में एक छतरी बनी हुई है। कवि के शब्दों में-

निकल रही जिसकी समाधि से
स्वतंत्रता की आगी।
यहीं कहीं पर छिपा हुआ है
वह स्वतंत्र वैरागी॥

भारतीय संविधान की प्रासंगिकता एवं अपेक्षित परिवर्तन

डॉ. सतीष्ठा चन्द्र मित्तल*

किसी भी देष्ठा का संविधान उसकी जनभावना की अभिव्यक्ति, दृढ़ संकल्प का परिचायक, संस्कृति एवं राष्ट्र-चिन्तन का द्योतक तथा भविष्य का मार्गदर्ष्ठाक होता है। संविधान की जड़ें उसके अतीत, साहित्य, दर्ष्ठान, अध्यात्म परम्पराओं में होती हैं। यह राष्ट्र की सांस्कृतिक-सामाजिक विरासत तथा भावी चिन्तन तथा नीतियों का बोधक होता है। आवष्ठयक है कि संविधान देष्ठा की आत्मा, प्रकृति, रुचि, स्वभाव के अनुकूल हो।[1]

यह भी नहीं भूलना चाहिए कि संविधान अपने आप में कोई साध्य नहीं है, बल्कि यह साधन मात्र होता है। मूलत: संविधान समाज के लिए होता है, न कि समाज संविधान के लिए। विष्ठव के अनेक देष्ठों में समय-समय पर अनेक संष्ठोधन, परिवर्तन तथा समाजोपयोगी न रहने पर नवीन संविधान की रचना हुई है।[2]

महात्मा गाँधी का कथन है कि संविधान का वैष्ठिष्ट्य इसमें है कि देष्ठा का प्रत्येक नागरिक, स्त्री-पुरुष, युवा-वृद्ध इससे परिचित हो तथा प्रत्येक उसमें अपनी भागीदारी का अनुभव करता हो। सीधा-सा विचारणीय बिन्दु है कि संविधान के लागू होने के 64 वर्षों के पष्ठचात भी भारतीय जनमानस अपने संविधान के प्रति उदासीन क्यों है? ग्राम, कस्बे, नगर तथा महानगर के रहने वाले नागरिक इससे अपरिचित क्यों हैं?

यद्यपि भारतीय संविधान बनाने की प्रक्रिया 1940 से ही प्रारम्भ हो गयी थी। परन्तु औपचारिक रूप से भारतीय संविधान सभा की स्थापना ब्रिटिष्ठा कैबिनेट मिष्ठान योजना के अन्तर्गत 16 मई 1946 को की गयी।[3] संविधान सभा जैसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय के लिए कोई नये चुनाव नहीं किये बल्कि इससे पूर्व केवल 13 प्रतिष्ठात मताधिकार का प्रतिनिधित्व करने वाले अप्रत्यक्ष वोटों से अनुपातिक ढंग से चुनकर लोगों को मान लिया गया। नये चुनाव के लिए पं. जवाहरलाल नेहरू भी पक्ष में न थे। बाद में इसमें कुछ और निर्वाचित सदस्यों को जोड़ा गया था। स्वाभाविक रूप से इसमें पढ़े-लिखे युवकों, दुकानदारों, व्यापारियों, किसानों तथा मजदूरों का कोई प्रतिनिधित्व न था, परन्तु वे इसके सदस्य अवष्ठय थे जो पहले मुस्लिम लीग के सदस्य या द्वि-राष्ट्रवाद के

*प्रवक्ता-प्राचीन इतिहास, ष्ठोध सहायक, गुरु श्रीगोरक्षनाथ ष्ठोध एवं अध्ययन केन्द्र, महाराणा प्रताप स्नातकोत्तर महाविद्यालय, जंगल धूसड़, गोरखपुर

सिद्धान्त के पोषक थे। संविधान सभा में इनके व्यवहार के प्रति बार-बार शंका जतायी गयी थी। इस संविधान सभा की कार्यवाही 9 दिसम्बर 1946 से 26 नवम्बर 1949 तक चली। इस लगभग तीन वर्ष 165 दिनों में ग्यारह अधिवेशनों में कार्य हुआ। इन अधिवेशनों में 7635 संशोधन प्रस्तुत किये गये जिसमें केवल 2473 संशोधनों पर चर्चा हुई। संविधान में मूल रूप से 395 अनुच्छेद, 22 विभाग तथा 8 अनुसूचियाँ थीं। यह समस्त कार्यवाही 6440 पृष्ठों में प्रकाशित हुई तथा इस पर कुल व्यय 63,96,729 रुपये हुआ। इस संविधान में 90,000 शब्द हैं। बी.डी. बसु ने इसे विश्व का सबसे विस्तृत तथा प्रसिद्ध संविधान शास्त्री एम.बी. पाइली ने इसे हाथी जैसा भारी भरकम बतलाया है।[4]

यह उल्लेखनीय है कि भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू प्रारम्भ में संविधान बनाने के महत्त्वपूर्ण कार्य को ब्रिटेन के सुप्रसिद्ध संविधान शास्त्री सर आइवर जेनिंग्ज को सौंपना चाहते थे।[5] संविधान के सन्दर्भ में उनका महात्मा गाँधी से भी जरा भी तालमेल न था। भारतीय संविधान किसी भी अर्थ में गाँधीवादी न था और न ही यह गाँधी जी के हिन्द स्वराज्य के अनुरूप है, जो संसदीय प्रजातंत्र को अभारतीय तथा मनोवैज्ञानिक मानते हैं। यह संविधान गाँधी जी द्वारा प्रदत्त संविधान के प्रारूप के भी अनुकूल नहीं है जो उन्होंने अपनी मृत्यु से एक दिन पहले तैयार किया था जिसमें उन्होंने कांग्रेस का विघटन करके ग्राम पंचायतों के आधार पर राष्ट्र निर्माण का स्वरूप रखा था।[6]

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि डॉ. बी.आर. अम्बेडकर का भारत संविधान बनाने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान रहा परन्तु इसमें उनकी आत्मा न थी। संविधान निर्माण के लिए सात सदस्यों की डॉ. अम्बेडकर के नेतृत्व में कमेटी स्थापित की गयी थी, परन्तु एक आध को छोड़कर प्रायः सभी इसकी प्रक्रिया के प्रति उदासीन थे। इस सन्दर्भ में टी.टी. कृष्णमाचारी (चेन्नई) का कथन उल्लेखनीय है, जिसमें उन्होंने बतलाया है कि कमेटी में सात व्यक्ति नियुक्त किये गये थे। एक ने त्यागपत्र दे दिया जो बदला गया। एक की मृत्यु हो गयी तथा उसकी स्थानपूर्ति न हुई। एक अमेरिका चला गया तथा उसका स्थान नहीं भरा गया। एक अन्य रस्म के कार्य में ज्यादा व्यस्त रहा। एक अन्य दिल्ली से दूर था तथा स्वास्थ्य ठीक न होने की वजह से भाग न ले सका। अतः संविधान निर्माण का कार्य एक व्यक्ति डॉ. अम्बेडकर के कन्धों पर आ पड़ा और इस जिम्मेवार कार्य के लिए हम उनके ऋणी हैं।[7]

परन्तु डॉ. अम्बेडकर को भी संविधान बनने पर इसे मन से स्वीकार न था। उन्होंने 1953 में कहा[8], 'लोग प्रायः कहते हैं कि मैं भारतीय संविधान का निर्माता हूँ। मेरा जवाब है कि मैं तो ट्रीक था। मुझे जो भी करने को कहा, मैंने अपनी इच्छा के विरुद्ध किया।' उन्होंने पुनः कहा, 'महानुभाव! मेरे मित्र कहते हैं कि मैंने संविधान बनाया। मैं यह कहने के लिए बिलकुल तैयार हूँ

कि मैं पहला व्यक्ति हूँगा जो इसे जला देगा। मैं इसे नहीं चाहता। यह संविधान किसी भी व्यक्ति के लिए उपयुक्त नहीं है।' जब पंजाब के एक सदस्य डॉ. अनूप सिंह ने पूछा[9]- 'आप इसे जलाना क्यों चाहते हैं?' इसके उत्तर में 19 मार्च 1955 को डॉ. अम्बेडकर ने पुनः राज्यसभा में कहा कि आप इसका उत्तर चाहते हैं, हमने देवता के आगमन के लिए एक मन्दिर बनाया, परन्तु इससे पूर्व कि देवता वहाँ स्थापित हो, असुरों ने उस स्थान पर कब्जा कर लिया। अब क्या किया जा सकता है? सिवाय इसके कि मन्दिर को ध्वंस कर दिया जाए।'

ऐसे ही भारतीय संविधान सभा के अध्यक्ष डॉ. राजेन्द्र प्रसाद भी समय-समय पर उसकी कार्यवाही से क्षुब्ध रहे। यहाँ तक कि 24 नवम्बर 1949 को भारतीय संविधान की प्रति पर हस्ताक्षर करते हुए अपना क्षोभ प्रकट किया कि भारत के संविधान की मूल प्रति किसी भी भारतीय भाषा में न होकर अंग्रेजी में है तथा भारतीय संविधान में किसी भी संसद सदस्य या विधान सभा के उम्मीदवार के लिए कोई भी शिक्षा की शर्त नहीं रखी गयी है।[10]

भारतीय संविधान के बनते ही इसकी चहुँ ओर भयंकर तथा तत्कालीन नेताओं की आशा के विपरीत प्रतिक्रिया हुई। इसे प्रासंगिकता तथा उपयोगिता के विपरीत बताया गया। इसे यूरोपीय संविधान, यूरोपीय अमेरिकन संविधान, स्वतंत्रता के पश्चात अपना पश्चात, पर ब्रिटेन द्वारा दिया भारतीय संविधान, कांग्रेस के हिसाब से बना संविधान, आपा-धापी में बना संविधान आदि कहा गया। कुछ ने इसके निर्माण में लार्ड माउण्टबेटन, पं. नेहरू तथा आई.सी.एस. अधिकारी श्री बी.एन. राव को ही बतलाया।

यह कहना गलत न होगा कि भारतीय संविधान में भारतीय संस्कृति, परम्परा तथा इतिहास-दृष्टि का पूर्ण अभाव है। भारत के सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व न्यायाधीश श्री मेहर चन्द महाजन ने अपने एक लेख में 1935 के एक्ट पर आधारित संविधान को एक दासत्व की प्रति (Slavish Copy) बतलाया। सर्वोच्च न्यायालय के एक दूसरे पूर्व न्यायाधीश श्री बी.पी. सिन्हा ने नयी दिल्ली में सितम्बर 1966 में एक विचार गोष्ठी में संविधान का अधिकतर भाग 1935 के ऐक्ट पर आधारित बताया।[11] एक प्रसिद्ध विद्वान् लालवाणी[12] ने इसकी उद्देशिका, मूल अधिकारों, राज्य के नीति निर्देशक तत्त्वों आदि बड़े-बड़े शब्दों के पीछे 1935 के ऐक्ट की छाप माना है। उसके अनुसार पुराने ढाँचे को भारत के राजशिल्पियों ने एक नयी पलास्टर सामग्री (यानी अमेरिका, इंग्लैण्ड, आयरलैण्ड तथा आस्ट्रेलिया के संविधानों) से जोड़कर बनाया है परन्तु वे इसे एक सतत समन्वय देने में पूर्णतः असफल रहे। डॉ. सम्पूर्णानन्द ने चेन्नई में एक भाषण में कहा कि भारतीय संविधान में कुछ भी भारतीय नहीं है। हिन्दू महासभा के एक प्रस्ताव में कहा गया[13] कि संविधान मात्र एक हास्यास्पद चित्र नहीं पाश्चात्य संविधान का एक गड़बड़झाला है। यह प्राचीन भूमि की सुन्दरमय संस्कृति तथा परम्पराओं के बिलकुल विपरीत है। प्रसिद्ध विचारक श्री दीनदयाल उपाध्याय ने एक

लेख में कहा इस संविधान का पुरस्कार करें या विस्तार करें या बहिष्कार करें।

संविधान सभा के अनेक सदस्यों ने भी उसकी प्रासंगिकता पर अनेक प्रश्न किये। प्रमुख सदस्य श्री अनतशायनम आयंगर ने इसे पश्चिम के कुछ पुराने संविधानों का पैचवर्क कहा तथा इसे 1935 के ऐक्ट की नकल (Replica) कहा। श्री हनुमंतथय्या ने कहा, हम चाहते थे वीणा के सितार का संगीत, पर यहाँ हमारे पास है इंग्लैण्ड के बैण्ड का संगीत।[14] श्री एस.वी. कामथ ने कहा[15] कि हमने अन्य देशों के संविधानों से बहुत कुछ लिया तथा प्रश्न किया क्या हमने कोई अपने अतीत से भी लिया है? क्या भारत की राजनीतिक तथा आध्यात्मिक प्रतिभाओं से भी कुछ लिया है? उन्होंने पुन: कहा श्रीमति विजय लक्ष्मी यू.एन.ओ. में बड़ी गर्मजोशी से कहती हैं कि हमने पेरिस से स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व लिया है पर यह नहीं बतलाया कि भारत से क्या लिया? इसी प्रकार की चर्चा कई सदस्यों ने की तथा इसे जनभावना के बिलकुल विपरीत बतलाया।

अनेक विदेशी विचारकों तथा शोधकर्ताओं ने भारतीय संविधान के स्वरूप तथा इसकी प्रासंगिकता पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। ब्रिटेन की एक सरकारी रिपोर्ट में कहा गया है- भारत के सिद्धान्तों का आधार ब्रिटिश मॉडल है जो कि गणतंत्र के फैले प्रकृति के अनुरूप अपनाया गया है।[16] कुछ विशेषताएँ यूएसए, आस्ट्रेलिया, कनाडा व आयरिश रिपब्लिक से ली गयी है। माइकल ब्रीचर ने इसमें 235 अनुच्छेदों को 1935 के ऐक्ट की ज्यों-का-त्यों अथवा मामूली परिवर्तन के साथ तथा इसमें भारतीय चिन्तन का पूर्ण अभाव माना है।[17] एक प्रसिद्ध अमरीकी विद्वान् सर थियोडोर ने लिखा[18]- यह संविधान उपनिषद्, रामायण तथा महाभारत वाले देश में सोचा भी नहीं जा सकता। यह उस भारतीयता का चिन्तन नहीं करता।

प्रसिद्ध गाँधीवादी चिन्तकों तथा विचारकों ने इसमें ग्राम, ग्राम पंचायतों तथा ग्राम स्वराज्य की प्रासंगिकता को पूर्ण गायब पाया। महावीर त्यागी ने अपनी व्यंग्यात्मक शैली में कहा[19]- आखिर गाँव को क्या मिला। केवल वोट का अधिकार। टी प्रकाशन ने कहा- गाँवों को भुलाकर हमने अनेक वर्षों के स्वतंत्रता संघर्ष को ही एक झटके में विस्मृत कर दिया। सचमुच में अनेक योजनाओं के ढोल पीटने के बाद भी गाँव व ग्रामवासी वहीं खड़े हैं जहाँ 1947 में थे।[20] प्रसिद्ध विद्वान् धर्मपाल ने संविधान पर फिर से सोचने तथा गाँवों को अपने राजनीतिक ढाँचे में स्थान देने को कहा है।[21] प्रसिद्ध पत्रकार प्रकाश जोशी ने[22] इसे कबाइलियों के जंगल में भटकता लोकतंत्र माना है। विद्वान् लेखक भामिनी सेनगुप्त ने संविधान के व्यावहारिक स्वरूप को देखते हुए कहा- प्रजातंत्र झूठे, अर्धसत्यों, चालाकियों तथा षड्यंत्रों के चार पहियों पर नहीं चलेगा।

1997 में श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने कहा- भारत का संविधान परिस्थितियों की उपज है। इससे पूर्व संविधान पद्धतियों का अध्ययन नहीं किया गया। यह संविधान हड़बड़ी में बना है।

संक्षेप में, यदि 26 जनवरी 1950 से जबकि संविधान लागू हुआ गत 10 मई 2013 तक राज्य सभा में प्रस्तावित राजीव प्रताप रूडी के संविधान सम्बन्धी बिल[23] पर विचार करें तो भारतीय संविधान को विभिन्न अनुच्छेदों के प्रति भारतीय जन मानस की बड़ी बेचैनी रही है। इसका मुख्य कारण विदेष्ठी संविधानों की नकल पर सौंपा गया संविधान, भारतीय मानस को किंचित् भी स्पर्ष्ठा न कर पाया और न ही यह प्रासंगिक तथा जन उपयोगी बन पाया। संविधान की उद्देष्ठिका से लेकर देष्ठा का नाम, मौलिक अधिकार, नागरिकता का प्रष्ठन, राज्य के नीति निर्देष्ठाक तत्त्व, ग्राम पंचायतों की स्थिति, राष्ट्रभाषा, राष्ट्रगान, 370 की धारा, 365स के अनुच्छेद का दुरुपयोग, दलबदल तथा भ्रष्ट राजनीतिक सदस्यों की समस्या, ष्ठाक्ति का विकेन्द्रीकरण, ष्ठिाक्षा तथा भाषा के झगड़े, वित्तीय नीति आदि अनेक प्रष्ठन भारतीय मन को ष्ठान्त न कर सके।

संविधान को प्रासंगिक तथा उपयोगी बनाने के लिए समय-समय पर संष्ठोधन परिवर्तन तथा समीक्षा की गयी है। पण्डित जवाहरलाल नेहरू, इन्दिरा गाँधी तथा राजीव गाँधी के प्रधानमंत्रित्व काल में 58 संविधान संष्ठोधन पारित हुए जिनमें 32 संष्ठोधन अकेले इन्दिरा गाँधी काल के हैं।[24] 2000 ई. तक 79 संष्ठोधन हुए जिसमें 69 कांग्रेस के प्रधानमंत्री काल के हैं। अब तक लगभग 100 संष्ठोधन हो चुके हैं।

इस सन्दर्भ में अभी तक सात समितियाँ संविधान के संष्ठोधन या परिवर्तन के लिए बन चुकी हैं। पहली समिति 1950-51 में बनी जिसके सुझाव पर नयी अनुसूची बनी तथा कुछ विषय न्यायालय समीक्षा से सुरक्षित रखे गये। दूसरी समिति 1954 में बनी जिसमें न्यायालयों को सरकार के अधीन रखने का सुझाव था जो स्वीकार न हुआ। तीसरी समिति 1967 में बनी जिसमें संविधान के मूल चरित्र तथा मौलिक अधिकार की पहली बार व्याख्या की गयी। चौथी समिति 1976 में इन्दिरा गाँधी द्वारा आपातकाल में बनी। इसमें लोकतंत्र को पंगु बनाने के कई उपाय थे। पाँचवीं समिति के आधार पर 43वें तथा 44वें संष्ठोधन विधेयक पारित किये गये। छठीं समिति 1980 में संविधान का पुनः निरीक्षण करने हेतु रणजीत सिंह सरकारिया की अध्यक्षता में गठित की गयी। इसमें केन्द्र तथा राज्य सम्बन्धों के लिए एक आचार संहिता बनायी गयी, पर उसे लागू न किया गया। इस सन्दर्भ में अन्तिम समीक्षा के लिए श्री अटल बिहारी वाजपेयी के प्रधानमंत्रित्व काल में जनवरी 2000 में सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व न्यायाधीष्ठा एम.एन. वैंकेटचलैया की अध्यक्षता में 11 सदस्यों का आयोग बना। इसने अपनी 1976 पष्ठों की रिपोर्ट 249 सिफारिष्ठों के साथ भेजी जिस पर कोई विचार-विमर्ष्ठा न हुआ। इसकी सिफारिष्ठें मुख्यतः दलबदल की समस्या, गरीबी दूर करने के मार्ग, 356 अनुच्छेद के सन्दर्भ में केन्द्र की मनमानी, गवर्नरों की नियुक्ति तथा हटाना, पंचायतों को मजबूत बनाने, ष्ठाक्ति के विकेन्द्रीकरण आदि के बारे में थी। इस कमीष्ठान के गठन का कांग्रेसी विरोधी दल द्वारा कड़ा प्रतिरोध हुआ। वस्तुतः श्रीमति इन्दिरा गाँधी द्वारा अकारण देष्ठा में आपातकाल

की घोषणा, राजनीति के सम्प्रदायीकरण तथा वोट चुनाव की राजनीति ने भारत जनमानस में भारतीय संविधान के प्रति सन्देह तथा आष्ठांकाओं को बढ़ाया है। संविधान गत 64 वर्षों में भारतीय जन समाज की समस्या तथा आकांक्षाओं की पूर्ति न कर पाया। पुरानी व्यवस्थाएँ चरमरा रही हैं। लगभग पिछले दस वर्षों में देष्ठा प्रायः अस्थिर अवस्था में है। चारों ओर व्याप्त भ्रष्टाचार, घोटालों, काले धन की कोई सीमाएँ नहीं रही हैं। गरीबी, महँगाई, भुखमरी, कुपोषण, अष्ठिक्षा तथा उसका गिरता स्तर, बेरोजगारी रसातल तक पहुँच गयी है। राजनेताओं द्वारा चुनाव जीतना संविधान की सर्वाधिक सफलता का मापदण्ड लगने लगे हैं। लोक कल्याण, लोक मंगल तथा लोक निर्माण उन्नति के निम्नतम पायदान पर पहुँच गया हैं भारतीय संविधान अप्रासंगिक बन गया है।

सच तो यह है कि विष्ठव में सबसे लम्बा-चौड़ा हाथी जैसे संविधान को दिखाने के दाँत और हैं और खाने के और। इसकी जड़ें भारत की संस्कष्ठति तथा अध्यात्म में न होने के कारण व्यवहार में यह इतना कारगर साबित नहीं हुआ जितने परिश्रम से इसे तैयार किया गया था। यह संविधान सम्पूर्ण देष्ठा की भावनाओं का प्रतीक न बन सका। यह भी सच है कि भारत का संविधान गुलाम भारत में औपनिवेष्ठिक मानसिकता से ग्रसित लोगों ने गढ़ा था। यह संविधान हड़बड़ी में बना था। वैसे भी संविधान निर्माण की परिस्थितियाँ बिलकुल बदल गयी हैं। 1947 की तीस करोड़ जनसंख्या से अब देष्ठा की जनसंख्या एक सौ पच्चीस करोड़ हो गयी है। भारतीय ग्राम तथा ग्रामवासी विकास की छवि से बहुत धीमी गति से आगे बढ़े हैं। संविधान में अब भी भारतीय संस्कष्ठति तथा परम्परा का पूर्ण अभाव है। भारत के अनेक मुद्दे देष्ठा की एकता, अखण्डता तथा दष्ढ़ता में बाधक बने हैं। अनेक महत्त्वपूर्ण मुद्दे जैसे समान नागरिक संहिता, 370 की विभेदकारी धारा, 356 के अनुच्छेद का पक्षपातपूर्ण रवैया, केन्द्र-प्रान्तों के अस्पष्ट सम्बन्ध, न्यायालयों की सुलभ सस्ते तथा ष्ठीघ्र निर्णयों की विफलता, देष्ठाद्रोहियों, राजनीतिक हत्यारों तथा अनेक अपराधियों को कठोर सजा न मिलना, नागरिकता की ष्ठर्तें तथा राज्यपालों, प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्रियों की सीधी नियुक्तियों की बढ़ती माँग, भाषा तथा जाति से जुड़े अनेक प्रष्ठन देष्ठा की बाहरी तथा आन्तरिक सुरक्षा, नैतिक जीवन के गिरते जीवन मूल्य, ष्ठिक्षा, बेरोजगारी आदि समस्याएँ ज्यों-की-त्यों हैं। समय-समय पर अनेक संविधान समितियाँ भी प्रभावष्ठाली परिवर्तन नहीं ला पायी हैं। अतः समय की आवष्ठयकता लगती है कि भारतीय संविधान के बारे में पुनर्चिन्तन हो। भारतीय जीवन मूल्यों तथा संस्कष्ठति के अनुरूप संविधान में आमूल-चूल परिवर्तन हो। संविधान की समीक्षा हो। अपेक्षित संष्ठोधनों के लिए राष्ट्रव्यापी बहस हो। अन्यथा भारत के लिए एक नवीन गणतंत्रात्मक संविधान बनाया जाए। आखिर वर्तमान संविधान कोई सष्ठष्टिकर्ता ब्रह्मा का वाक्य नहीं है जिसे सुधारा या बदला न जा सके। आखिर इसमें हर्ज क्या है? संक्षेप में भारतीय संविधान ऐसा हो जिसकी जड़ें अतीत में हों; वर्तमान की आवष्ठयकता की पूर्ति करें तथा भविष्य के लिए प्रेरक तथा मार्गदर्ष्ठक हों।

सन्दर्भः

1. सन्त विजय कौष्ठाल महाराज - दृष्ट संकल्प सुनायेगा परिवर्तन की आहट - पांचजन्य, 11 नवम्बर 2012
2. देवेन्द्र स्वरूप - भटकाव की जड़ें संविधान ही है, पांचजन्य, 17 अगस्त 2008, पष्ट 6-12
3. कैबिनेट मिष्ठान योजना की घोषणा तथा लार्ड बैबेज की घोषणा के लिए देखें- मैनेजर एवं निकोलसन (स) कॉन्स्टिट्यूष्ठानल रिलेष्ठान्स बिटवीन ब्रिटेन एण्ड इण्डिया, द ट्रॉन्सफर ऑफ पावर 1942-47, भाग 7 (नयी दिल्ली 1978), डाक्यूमेंट नं. 305, पष्ट 582-91, चौधरी वाल्मीकि सं. डॉ. राजेन्द्र प्रसाद पेपर्स, भाग 4
4. कॉन्स्टिट्यूष्ठानल एसेम्बली डिबेट, भाग-11, पष्ट 305
5. दत्तोपंत ठेगड़े - डॉ. अम्बेडकर और सामाजिक क्रान्ति की यात्रा (मई 2006), पष्ट 55
6. हरिजन, 15 फरवरी 1948
7. कॉन्स्टिट्यूष्ठानल एसेम्बली डिबेट, भाग-7, 4 नवम्बर 1948
8. राज्य सभा की कार्यवाही, 2 सितम्बर 1955
9. राज्य सभा की कार्यवाही, 17 मार्च 1955
10. कॉन्स्टिट्यूष्ठानल एसेम्बली डिबेट, भाग-11, 24 नवम्बर 1949
11. द ट्रिब्यून, 15 अगस्त 1966
12. कस्तूर चन्द लालवाणी, इण्डिया : स्ट्रगल एण्ड कॉन्स्टिट्यूष्ठानल (कोलकाता 1950)
13. रामनारायण, फ्रीडम ऑफ इण्डिया : ए होक्स (दिल्ली 1970), पष्ट 88; देखें- मुम्बई का प्रस्ताव 28 जनवरी 1950
14. कॉन्स्टिट्यूष्ठानल एसेम्बली डिबेट, भाग-11, 17 नवम्बर 1949, पष्ट 616-17
15. कॉन्स्टिट्यूष्ठानल एसेम्बली डिबेट, भाग-7, 5 नवम्बर 1948, पष्ट 218
16. कॉन्स्टिट्यूष्ठानल डेवलपमेंट इन द कामनवेल्थ, भाग-1, मेम्बर कंट्रीज 1955, पष्ट 31
17. माइकेल ब्रीचर - नेहरू : ए पॉलिटिकल बायोग्राफी 1959, पष्ट 491
18. सर थियोडोर साहे, द लीगेसी ऑफ लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक
19. कॉन्स्टिट्यूष्ठानल एसेम्बली डिबेट, भाग-7, 6 नवम्बर 1948, पष्ट 257
20. सतीष्ठा चन्द मित्तल, जहाँ के नहीं हैं गाँव और गाँववासी; पांचजन्य 25 जून 2013
21. जनसत्ता, जनवरी 1987
22. 'इट्स टाइम्स कार फार ए न्यू रिपब्लिक; द हिन्दुस्तान टाइम्स, 4 मार्च 1996
23. राज्य सभा की कार्यवाही, 10 मई 2013
24. सतीष्ठा चन्द मित्तल, भारतीय संस्कष्ति के अनुरूप हो संविधान में संष्ठोधन; पांचजन्य 6 जनवरी 2013
25. सतीष्ठा चन्द मित्तल, भारतीय संविधान पर पुनर्चिन्तन आवष्ठयक; पांचजन्य 7 फरवरी 2010

हिन्दू-मुस्लिम दंगों की समस्या

शंकर शरण*

राममनोहर लोहिया ने गाँधीजी की हत्या के सन्दर्भ में कहा था कि 'देश का विभाजन और गाँधीजी की हत्या एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इन्हें अलग-अलग करके विचार नहीं किया जा सकता।' उनके इस कथन की गम्भीरता सभी जानकार लोग समझते हैं। किन्तु फिर भी उन दो पहलुओं को कभी साथ-साथ नहीं देखा जाता, विचार करना तो दूर की बात है।

कहना चाहिए कि वही पलायनवादी रुख हिन्दू-मुस्लिम दंगों के सन्दर्भ में रहा है। भारत में आदि काल से विभिन्न समुदाय रहते हैं। ये समुदाय धर्म-विश्वास, सम्प्रदाय, जाति, भाषा आदि अनेकानेक आधारों पर हैं। इनमें से कइयों के बीच आपस में मनमुटाव, उदासीनता या कभी-कभी दुराव जैसा सम्बन्ध भी रहा है। फिर भी किसी समुदाय की किसी विशेष समुदाय के साथ दंगों की कोई परम्परा नहीं है। इसका एक मात्र अपवाद हिन्दू-मुस्लिम दंगे हैं, जिसका सदियों पुराना इतिहास यथावत् जारी है। जर्मन इतिहासकार डॉ. माइकेल मान ने दिल्ली और आस-पास क्षेत्र के इतिहास पर अध्ययन करते हुए पाया कि यहाँ के शासकों के लिए अठारहवीं शती में भी जब-तब हिन्दू-मुस्लिम दंगे एक समस्या रही है। अयोध्या में रामजन्म-भूमि वाले स्थान पर ढाई सौ साल पहले से दंगे होते रहे हैं, इसका उल्लेख अनेक सरकारी, गैर-सरकारी दस्तावेजों में मिलता है।

अत: यह एक गम्भीर प्रश्न बनता है कि बहुविध विभिन्नताओं के देश भारत में केवल एक विभिन्नता मुस्लिमों और हिन्दुओं की विभिन्नता-नियमित दंगों के रूप में भी व्यक्त होती है। वह भी देश के कई भागों में। सदियों से चल रही इस शोचनीय परिघटना पर हमारे देश (और विदेश भी) के सच्चे विद्वानों, विचारकों, राजनेताओं, शोधकर्ताओं, प्रशासकों ने अवश्य ही विचार किया होगा! बल्कि किया ही है। कई बार दंगों पर विभिन्न सरकारों द्वारा नियुक्त जाँच आयोग की विस्तृत रिपोर्टें और अनुशंसाएँ भी आयी हैं। तब वह हमारे सामने क्यों नहीं हैं। क्यों हमारे लेखक, पत्रकार, विद्यार्थी आदि किसी ऐसे दस्तावेज या पुस्तक का उल्लेख नहीं कर पाते। अखबारों के सम्पादकीय, टेलीविजन चैनलों पर चर्चाएँ, लेख आदि केवल चालू टीका-टिप्पणियों तक ही क्यों सीमित रह जाते हैं। यह खालीपन ध्यान देने लायक है।

*IV/44, एन.सी.ई.आर.टी. आवास, श्री अरविन्द मार्ग, नयी दिल्ली 110 016

इसका सीधा कारण यह है कि हिन्दू-मुस्लिम दंगों के सम्बन्ध में बुनियादी सच्चाइयों पर विचार करने के बजाय उनसे बचने की कोष्ठिाष्ठा की जाती है। यह अपने-आप में एक बड़ी समस्या और दंगों को रोकने की स्थायी व्यवस्था करने में एक बाधा है। दंगों की समस्या को उसके सभी पहलुओं के साथ नयी पीढ़ियों, जिनसे नये प्रष्ठासक, अध्यापक और नीति-निर्माता बनते हैं, के सामने कभी नहीं रखा जाता। बल्कि तत्सम्बन्धी विचारों-विष्ठलेषणों को छिपाने के साथ-साथ उलटे एक नकली और झूठी तस्वीर एवं इतिहास हमारे बच्चों, युवाओं को पढ़ाते-सिखााते रहने की घातक परम्परा चल रही है। परिणामतः अनेकानेक ष्ठिाक्षक, कर्तव्यनिष्ठ प्रष्ठासक, पत्रकार, मेधावी छात्र, नये राजनीतिकर्मी आदि लोग दंगों के बारे में बुनियादी-स्थायी सच्चाइयों से नितान्त अनजान रहते हैं। उससे भी बुरी बात कि झूठे पाठ, प्रचार के कारण वे गलत जानकारियों, पूवाग्रहों से भरे रहते हैं। इसलिए भी दंगों की पुनरावष्ठि रोकने का उपाय नहीं हो पाता। क्योंकि जिस बीमारी के लक्षण ही छिपाये जाएँ; उलटे बीमार को स्वस्थ बताया जाये, उस बीमारी से तो मुक्ति नहीं हो सकती।

हिन्दू-मुस्लिम दंगा हमारे समाज का वह घाव है, जिसे वह छिपाकर ही जीते रहने की आदत डाले रहा है। इसी का दुष्परिणाम है कि घाव जब-तब बलपूर्वक फूट पड़ता है। बल्कि सच तो यह है कि कुछ विष्ठोष अवसरों पर इसे छिपाने की प्रतिक्रिया स्वरूप ही दंगे भड़क उठते हैं। जैसे गोधरा और गुजरात दंगा। 27 फरवरी, 2002 को हुए गोधरा काण्ड को दूसरे दिन से ही नकारने, बदलने, छिपाने के राजनीतिक-बौद्धिक प्रयास ने भी पीड़ित समुदाय के लोगों को बुरी तरह भड़का दिया। जिस तरह गुजराती लोग परम्परागत रूप से ष्ठान्तिपूर्ण लोग हैं, उससे यह कहने का ठोस आधार है कि यदि साबरमती एक्सप्रेस काण्ड करनेवालों की बिना अगर-मगर भर्त्सना और बड़ी कार्रवाई की बात होती तो सम्भवतः प्रतिक्रिया स्वरूप वे दंगे न हुए होते। किन्तु हमारे राजनीतिक-बौद्धिक वर्ग के एक प्रभावष्ठाली हिस्से ने गोधरा पर फौरन लीपापोती करके जले पर ढेर सारा नमक छिड़क दिया। आज भी नरेन्द्र मोदी की निन्दा करने वालों को इस सच्चाई का सामना करना ष्ठोष है। वह छिपी सच्चाई कि गोधरा काण्ड करनेवाले उस दंगे के मूल दोषी हैं, और मीडिया व सिविल सोसाइटी के सुन्दर लोग भी, जिन्होंने एक दिन के अन्दर गोधरा-काण्ड को खुद पीड़ित समुदाय के माथे डालने का निर्लज्ज, पर भयंकर प्रतिक्रियाजनक कार्य किया।

दरअसल, हर दंगे में, और आम तौर पर दंगों के पूरे प्रसंग में, जो सवाल निरपवाद रूप से कहीं-न-कहीं सिर उठाता है, वह है- 'दोषी कौन?' यह सवाल इस पूरी बीमारी या समस्या का सबसे विकट, मगर एक जरूरी पहलू है। इतना विकट कि प्रायः यही इस बीमारी को छिपाने का मुख्य आधार हो जाता है! और इतना जरूरी कि इससे बचकर कभी दंगों को रोकने की कोई व्यवस्था या कल्पना सफल नहीं हो सकती।

प्रायः किसी भी हिन्दू-मुस्लिम दंगे की रिपोर्टिंग में भी इस छिपाव को पहचाना जा सकता

है। चाहें तो अभी हाल के ऐसे दो बड़े प्रसंगों में इसे आजमा लें। अगस्त 2013 में किष्ठतवाड़ (जम्मू) और सितम्बर 2013 में मुजफ्फरनगर (उत्तर प्रदेष्ठा)। क्या सभी प्रमुख समाचार-पत्रों और टीवी चैनलों पर इनकी रिपोर्टिंग पूरी-पूरी अथवा किसी एक मानक के अनुसार हुई। पूरी-पूरी, अर्थात् घटनाओं का सम्पूर्ण यथावत् समाचार देना। एक मानक, अर्थात् दंगाई और पीड़ित हिन्दुओं व मुसलमानों के लिए एक जैसा रुख लेना। यदि नाम लेना हो, तो दोनों का लें। न लेना हो, तो किसी का न लें। यानी यथातथ्य या समरूप रिपोर्टिंग। न कि दंगाई या पीड़ित समुदाय का रूप देखकर रंग बदलते हुए रिपोर्ट या टिप्पणी करना।

उक्त दोनों प्रसंगों के समाचार कोई भी 10 अगस्त से 10 सितम्बर तक के अखबारों और पत्रिकाओं में देख-पढ़कर स्वयं जाँच सकता है। यदि दो-तीन अखबारों या पत्रिकाओं की रिपोर्टों को साथ-साथ देखें, तो वह छिपाव की बीमारी और बीमारी का छिपाव, फौरन दिख जायेगा। यदि किसी हिंसा/दंगे में 'क' समुदाय के लोग पीड़ित हुए हैं तो रिपोर्टों में उसकी पहचान नहीं बतायी जाती। फिर जल्द ही मामले को रफा-दफा मान लिया जाता है। दोषियों की खोज करने, दण्डित करने आदि की माँग, चर्चा आदि तो बात ही दूर रही। मगर यदि 'ख' समुदाय के लोग पीड़ित हुए, तो न केवल उसकी पहचान बतायी जाती है, बल्कि पीड़ितों की, उनके परिवारवालों की मार्मिक कहानियाँ, उनके चित्र, बयान, उनके दु:खी-पीड़ित होने की कारुणिक बातें आसमान तक बारम्बार उछाली जाती हैं। देष्ठा-विदेष्ठा के हर मंच का उपयोग कर विविध प्रकार के वास्तविक-काल्पनिक दोषियों को दण्डित करने की माँग की जाती है। यदि किष्ठतवाड़ दंगे पर कोई वैसी माँग नहीं हुई, तो कारण इण्डिया टुडे (16 अगस्त, 2013) की रपट पढ़कर समझ में आ जायेगा। उक्त दोहरेपन और छिपाव वष्ठित की झलक भी, जिससे हमारा राजनीतिक-बौद्धिक वर्ग ग्रस्त है।

यह छिपाव की हिंसा कैसे आरम्भ हुई। किसने आरम्भ की? क्या वह नितान्त आकस्मिक थी, या किन्हीं लोगों की सोची-समझी योजना का परिणाम? कहाँ-कहाँ क्या-क्या हुआ? किन नेताओं और संगठनों ने क्या कहा और क्या किया? किनकी जानें गयीं, किनकी क्या हानि हुई? मीडिया की रिपोर्टिंग से लेकर नेताओं और बुद्धिजीवियों के बयानों और टीका-टिप्पणियों में वह दोहरी बीमारी साफ-साफ नजर आयेगी : छिपाव की बीमारी और बीमारी का छिपाव। साथ-ही-साथ, समाचारों का विकष्ठितकरण और समय बीतने के साथ दंगे की वास्तविकता का खुला मिथ्याकरण भी कि दरअसल ऐसा नहीं, वैसा हुआ था। इस विकष्ठितकरण और मिथ्याकरण का सबसे सामयिक और क्लासिक उदाहरण ग्यारह वर्ष पहले का गुजरात दंगा ही है, जिसका उल्लेख आज भी किसी-न-किसी के द्वारा प्राय: हर रोज होता है! मगर होता है उस दंगे के आरम्भ का मूल कारण, गोधरा में साबरमती एक्सप्रेस में हिन्दू-दहन, का उल्लेख किये बिना। उसी क्रम में किष्ठतवाड़ दंगा

दो सप्ताह बाद ही चर्चा क्या, उल्लेख से भी बाहर हो गया! इस पलायनवादी रुख से दंगों की पुनरावृत्ति कभी नहीं रुकेगी।

उसी तरह, आखिर क्या कारण है कि उत्तर प्रदेश में विगत एक साल में सौ दंगे होने के बाद भी वहाँ के मुख्यमंत्री को इसके लिए किसी क्रोध, घृणा या संगठित निन्दा अभियान का सामना नहीं करना पड़ा है। जबकि गुजरात में ग्यारह वर्ष पहले हुए केवल एक दंगे के लिए वहाँ के मुख्यमंत्री को आज भी हरेक घृणित, वीभत्स विशेषणों, लांछनों से रोज दुहराया जाता है। यदि लगे कि किसी दंगे की भीषणता या पीड़ितों की बड़ी संख्या आदि कारणों से किसी मुख्यमंत्री के विरुद्ध ऐसा अभूतपूर्व निन्दा-अभियान चला और चल रहा है, तो 1984 के दिल्ली दंगे से तुलना कर लें। उस पर वैसा केन्द्रित अभियान तो दूर, किसी को मालूम भी नहीं कि तब दिल्ली का मुख्यमंत्री कौन था! इसलिए, दंगों के सन्दर्भ में छिपाव और विकृतिकरण की बीमारी का कारण कुछ और है। उसी कारण में दंगों का कारण और निदान का सूत्र भी छिपा है।

वस्तुतः यह दोहरापन, छिपाव और विकृतिकरण दंगों की मानसिकता को खुराक ही देता है। जिन प्रभावशाली नेताओं, मीडिया मैनेजरों और चालू बौद्धिकों ने कृष्णवाड़ दंगे के विवरणों को सामने नहीं आने दिया, न पीड़ितों की चित्र-कथाएँ सुनाईं, न सुनने दीं, वे अपने को 'जिम्मेदार' समझते हैं। पूछने पर बड़ी ठसक से कहते हैं कि सारी बातें बताने, दिखाने से 'माहौल बिगड़ेगा'। इसलिए अपनी ओर से कथित जिम्मेदारी निभाते हुए, वे दंगों के बारे में बनाव-छिपाव को प्रश्रय देते हैं। घाव को सामने लाने के बजाय छिपाकर उसे नासूर में बदलने देते हैं। जो समय के साथ पकता रहता है, और दोनों समुदायों में अलग-अलग रोष भरता जाता है। यही रोष पर्याप्त जमा हो जाने पर किसी नयी घटना से फट पड़ता है। पुनः दंगे भड़क उठते हैं। पुनः वह बनाव, छिपाव की 'जिम्मेदारी' निभायी जाती है। इस तरह यह अन्तहीन क्रिया चल रही है।

शारीरिक बीमारी की तरह किसी सामाजिक बीमारी को भी तब तक ठीक नहीं किया जा सकता, जब तक पहले उसके सभी लक्षणों, कारणों और सम्बन्धित विवरणों को डॉक्टरों के सामने रखा न जाये। उसके बाद ही उसका सही उपचार हो सकता है। किसी सामाजिक बीमारी के बारे में ऐसे डॉक्टर उस समाज के सबसे विचारशील, ज्ञानी और दूरदर्शी लोग ही होते हैं। हमारे समाज में भी ऐसे मनीषी रहे हैं। उदाहरण के लिए, महान् लेखक बंकिमचन्द्र, शरतचन्द्र; कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर, निराला, अज्ञेय; दार्शनिक स्वामी विवेकानन्द, श्रीअरविन्द; विदुषी भगिनी निवेदिता, एनी बेसेंट; नेता लाला लाजपत राय, लोकमान्य तिलक, स्वामी श्रद्धानन्द, डॉ. भीमराव अम्बेडकर आदि का स्मरण किया जा सकता है। मुस्लिम नेताओं व विचारकों में मौलाना अब्दुल मौदूदी, सैयद अहमद खान, अल्ताफ हुसैन हाली, अल्लामा इकबाल, मौलाना शौकत अली व मुहम्मद अली, मौलाना हुसैन अहमद मदनी, मौलाना अकबर शाह खान, ख्वाजा हसन निजामी, फजलुल हक,

मुहम्मद अली जिन्ना तथा मौलाना अबुल कलाम आजाद के विचारों को भी साथ-ही-साथ देखा जाना चाहिए। उन सबके तुलनात्मक अवलोकनों के अध्ययन से भारत में हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों, तनावों और झगड़ों की सम्पूर्ण प्रकृति आप-से-आप समझ में आ जाती है।

उदाहरण के लिए, डॉ. अम्बेडकर की पुस्तक 'पाकिस्तान ऑर पार्टीष्ठान ऑफ इण्डिया' (1940) इस समस्या को समझने के लिए एक बहुमूल्य दस्तावेज है। पुस्तक के द्वितीय संस्करण की प्रस्तावना में डॉ. अम्बेडकर ने लिखा भी था, 'यह भारतीय इतिहास और भारतीय राजनीति के साम्प्रदायिक पहलुओं की एक विष्ठलेषणात्मक प्रस्तुति है।' इसमें तब विगत पचास वर्ष के हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों का प्रामाणिक विष्ठलेषण है। चूँकि डॉ. अम्बेडकर हिन्दू धर्म-समाज के कटु आलोचक थे, इसलिए उन पर किसी पक्षपात का आरोप लगाना भी सम्भव नहीं। न वह कभी लगा। उलटे जिन्ना जैसे प्रखर मुस्लिम नेता ने भी उसे पठनीय बताया था। उस पुस्तक में डॉ. अम्बेडकर ने सन् 1920 से 1940 तक के बीच यहाँ हुए अनगिनत दंगों का सविस्तार विष्ठलेषण किया है। पुस्तक के पूरे छह अध्याय, 7 से 12, इस बीमारी को समझने के लिए एक प्रामाणिक सामग्री है। यह केवल एक विचारक का उदाहरण है।

उसके आगे, सन् 1947 से लेकर अभी तक के दंगों पर उतने ही प्रखर और सत्यनिष्ठ विष्ठलेषण के लिए बेल्जियन विद्वान् डॉ. कोएनराड एल्स्ट की पुस्तक 'द सैफ्रन स्वस्तिका : द नोष्ठान ऑफ 'हिन्दू फासिज्म', खण्ड 2 (नयी दिल्ली : वायस ऑफ इण्डिया, 2010), का सातवाँ अध्याय 'कम्युनल वायोलेंस एण्ड प्रोपेगण्डा' के कुल एक सौ ग्यारह पष्ठ पढ़ लेना पर्याप्त है। हमारी समझ से इस अध्याय को हिन्दू-मुस्लिम ष्ठिक्षित वर्ग तथा सभी जिम्मेदार प्रष्ठासकों, नीति-निर्माताओं के बीच प्रसारित करना दंगों की बीमारी रोकने में अत्यन्त मुफीद होगा। बल्कि बल्कि सभी पुलिस और प्रष्ठासनिक अकादमियों में प्रष्ठिक्षु अधिकारियों के लिए डॉ. अम्बेडकर की पुस्तक के उन अध्यायों और डॉ. एल्स्ट के इस अध्याय को अनिवार्य टेक्स्ट के रूप में पढ़ाया जाना चाहिए। इससे उन्हें भविष्यत दंगे रोक लेने का उपाय करना बिलकुल सरल हो जायेगा।

मगर हमारे 'जिम्मेदार' कर्णधारों ने उलटे ऐसे सभी सत्यनिष्ठ विष्ठलेषणों, विचारों, तजवीजों को भी छिपा देने का कार्य किया है। उसी झक में, कि वह सब छिपाना, छिपाए रखना ही ठीक है। नहीं तो माहौल बिगड़ेगा। जबकि, वास्तव में, ठीक इसी छिपाव से झूठी बातों, नारों और सिद्धान्तों को फैलाने का खुला मैदान मिलता है। नतीजन वही गलतियाँ दोहरायी जाती हैं जिससे हिन्दुओं और मुस्लिमों का आपसी मानसिक माहौल सदैव बिगड़ा रहता है। वह सन्देह और अफवाह का ष्ठिकार होने के लिए तैयार बैठा रहता है। हमारे नेताओं और बुद्धिजीवियों द्वारा सच्चाई न छिपाने और हरेक समुदाय के दोषियों या पीड़ितों के प्रति सदैव समान, समरूप बर्ताव करने से ऐसा न होता।

यह सार्वभौमिक सत्य है कि प्रायः हरेक समाज, समुदाय में अधिक संख्या भले और न्यायष्ठील लोगों की होती है। मगर किसी अप्रिय परिघटना की पूरी सच्चाई सामने रखने से ही उन्हें वास्तविक गड़बड़ी पकड़ में आयेगी। सही दोषी की पहचान तभी होगी, चाहे वह जो भी हो। तब स्वस्थ जनमत बनने में भी स्वतः मदद मिलेगी। समझना चाहिए कि सच्चाई और अच्छाई का सीधा सम्बन्ध है। उसी तरह, मिथ्याचार और बुराई का भी। महान् रूसी लेखक सोल्झेनित्सिन ने तो सिद्धान्त में 'झूठ' का व्यवहार में 'हिंसा' का अनिवार्य सम्बन्ध बताया है। उनके ष्ठाब्दों में, 'हिंसा को मात्र झूठ द्वारा छिपाया जा सकता है, और झूठ को केवल हिंसा द्वारा कायम रखा जा सकता है। जिसने भी एक बार हिंसा को अपना तरीका घोषित कर दिया वह हर हाल में झूठ को अपना सिद्धान्त बनाने के लिए बाध्य हो जायेगा।' उन्होंने यह कम्युनिस्ट विचारों और हिंसा के सन्दर्भ में कहा था। किन्तु यही बात हमारे देष्ठा में दंगों की विचारधारा और हिंसा के लिए भी बिलकुल सटीक बैठती है।

कहने का अर्थ यह कि दंगों के बारे में सच छिपाने से केवल बुरे, हिंसक लोगों और बुराई को ही मदद मिलती है। फिर उससे अनुचित प्रतिक्रिया को, तथा अफवाह फैलाने वालों, बदमाष्ठों, सस्ते राजनीतिबाजों और पक्षपातियों को मौका मिलता है। इन सबसे अन्ततः दोनों समुदायों के बीच अविष्ठवास बढ़ता ही जाता है। उसी अविष्ठवास में समय-समय पर छोटी-से-छोटी घटना किसी भारी दंगे का कारण बन जाती है। यह मोटी-सी बात हमारे कर्णधारों को समझ में नहीं आयी है। वे समझते हैं कि लोगों को सही या गलत केवल उतनी ही जानकारी होगी, जितनी वे देते या देना चाहते हैं। जबकि वास्तव में लोगों की समझ विविध स्रोतों, घटनाओं, परम्परागत ज्ञान, तथा अपने एवं दूर दुनिया के विविध अनुभवों, अवलोकनों से बनती है।

फिर, हिन्दू और मुस्लिम इस देष्ठा में सदियों से एक-दूसरे को देख, समझ और भुगत रहे हैं। इसके अतिरिक्त दोनों ही दुनिया में और देष्ठों में, और अन्य समुदायों के साथ भी रह रहे हैं। उन दूसरों, तीसरों के साथ इन समुदायों का कैसा आपसी सम्बन्ध है, उनके बीच किस तरह की घटनाएँ घटती या नहीं घटती हैं, यह सब भी यहाँ के हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों की आपसी समझ को प्रभावित करता है। जगजाहिर है कि हिन्दू स्वभाव से ही ष्ठान्तिप्रिय लोग हैं। गाँधीजी जैसे व्यक्ति ने भी इसे नोट करते हुए यहाँ तक कहा कि इसी कारण हिन्दू 'कायरता की हद' तक चले जाते हैं। दूसरी ओर, गाँधीजी के ही ष्ठाब्दों में, 'सदियों से 'साम्राज्य-विस्तार परम्परा के कारण' मुसलमान स्वभाव से ही 'उद्धत' (bully) होते हैं।' यह तुलनात्मक सच्चाई विष्ठव-पटल पर आज भी देखी जा सकती है। आप्रवासी हिन्दू बड़ी संख्या में अमेरिका, यूरोप, अफ्रीका ओर दक्षिण एष्ठिया के कई देष्ठों में लम्बे समय से रह रहे हैं। उन्हें कहीं भी झगड़ालू समुदाय के रूप में नहीं देखा जाता। जबकि आप्रवासी मुस्लिम समुदाय का दुनिया के हर देष्ठा में दूसरे समुदाय से झगड़े,

हिंसा और सन्देह का सम्बन्ध है। सेटेलाइट टेलीविजन और इण्टरनेट के कारण सभी लोग इस रोजमर्रा की सच्चाई को जानते, देखते हैं। क्या इस बात का हमारे यहाँ साम्प्रदायिक दंगों के यथार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं।

मगर हमारे 'जिम्मेदार' लोग गोधरा या किष्ठतवाड़ की घटनाओं को, या उसकी वास्तविक तफसील को छिपाकर समझते हैं कि उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच माहौल बिगड़ने से बचा लिया। उन्होंने कभी ठण्डे दिमाग से नहीं सोचा कि ऐसी बचकानी तिकड़मों के बाद भी उन्हें इस बीमारी को खत्म करने में सफलता क्यों नहीं मिली।

वस्तुतः भारत में हिन्दू-मुस्लिम दंगे जब भी होते हैं, उसके पीछे विगत घटनाओं, ष्ठासकीय भेद-भाव, निर्णयों, वक्तव्यों, अन्यायों, ष्ठिकायतों, आदि का इकट्ठा रोष भी रहता है। एक तरह से यह आपसी रोष, मनमुटाव ओर गलतफहमियों का घड़ा भरते रहना कह सकते हैं। इसीलिए कोई दंगा किसी तात्कालिक घटना का परिणाम भर नहीं होता। उसमें पिछली घटनाओं, अन्य सम्बन्धित बातों की तुर्ष्ठी भी रहती है, जिस पर तब तो कुछ नहीं हुआ था। किन्तु जिसने इस या उस समुदाय में कोई अस्वस्थ भाव पैदा किया था, अन्याय या अहंकार का भाव, जो आगे किसी मामूली प्रसंग को आकस्मिक रूप से भयंकर रूप देने में औचित्य या प्रेरक का काम करता है।

इसलिए जो लोग मुजफ्फरनगर दंगे को बिलकुल अलग करके देखना चाहेंगे, वे वास्तविकता तक नहीं पहुँच सकेंगे। सामान्य स्थिति में कुछ लड़कों द्वारा किसी राह चलती लड़की के साथ छेड़खानी, और फिर उस लड़की के भाई द्वारा बदले में उन लड़कों में से किसी को मारने की घटना से इलाके के गाँव-गाँव तक दंगा नहीं हो जाता। यदि मुजफ्फरनगर में यही हुआ, तो समझना चाहिए कि दो-तरफा तनाव पहले से मौजूद था और सूखे घास-फूस, पत्ते के ढेर के रूप में बढ़ता जा रहा था। उसे किसी दुर्भाग्यपूर्ण घटना ने हिंसक चिनगारी दिखा दी। वह घटना एक बहाना-भर बनी, जो बहाना कोई और घटना भी हो सकती थी।

कौन दावा करना चाहता है कि कमाल फारुकी ने जमा होते तनाव में एक और सूखा पत्ता नहीं डाला, जब उसने उत्तर प्रदेष्ठा के मंत्री पद से कहा कि यासीन भटकल जैसे भयंकर आतंकवादी को उसके अपराधों के कारण नहीं, बल्कि 'मुसलमान होने के कारण' गिरफ्तार किया गया है। यानी उसे गलत प्रताड़ित किया जा रहा है। उसी तरह, जम्मू-कष्ठमीर के सबसे प्रमुख नेता, बल्कि पूरे कष्ठमीरी मुस्लिम समुदाय द्वारा संसद पर आतंकी हमला करने वाले मुहम्मद अफजल को सजा देने का विरोध करना भी वैसा ही एक सूखा पत्ता न था? या कांग्रेस के वरिष्ठ नेता द्वारा बटाला हाउस मुठभेड़ में मुस्लिम आतंकियों द्वारा एक पुलिस अधिकारी के मारे जाने के बाद आतंकी को ही 'निर्दोष' बताने, और उसके घर जाकर संवेदना प्रकट करने से एक और सूखी लकड़ी नहीं जमा हुई?

उसी तरह, देष्ठा के सत्ताधारी दल द्वारा ऐसा विचित्र, बददिमाग कानून बनाने का प्रस्ताव लाना जो सभी साम्प्रदायिक दंगे के लिए आगे से सदैव हिन्दुओं को दोषी मानकर, तदनुरूप उन्हें दण्डित करने की तैयारी कर रहा था-क्या वह भी सूखे पत्तों का पूरा बण्डल ही जोड़ना नहीं था? अथवा, विविध राजनीतिक दलों द्वारा संविधान की खुली अवहेलना करके नौकरियों में मजहबी आधार पर मुस्लिम समुदाय को आरक्षण देने की भेद-भावकारी जुगत लगाना भी वैसा ही कार्य न था? अथवा, भटकल, अफजल आदि अनगिनत आतंकियों के प्रति निर्विकार रुख लेने, यहाँ तक कि 'निर्दोष' बतानेवालों द्वारा देष्ठा के सबसे लोकप्रिय नेता नरेन्द्र मोदी को निरन्तर अपष्ठाब्द कहना और उसे ग्यारह वर्ष पहले हुए एक दंगे का 'दागी' ठहराते हुए मनमाने दण्डित करने के लिए हर छल-प्रपंच का सहारा लेना? ऐसी सभी पक्षपाती घटनाएँ, ष्ठारारती क्रिया-कलाप, वक्तव्य आदि वास्तव में अगले आकस्मिक अग्निकाण्ड के लिए सूखे पत्ते, लकड़ियाँ जमा करते जाने जैसी बात ही है। उसमें चिनगारी कब-कैसे-कौन लगाता है, यह भिन्न बात है। मगर ऐसी लकड़ियाँ, सूखे पत्ते जमा करते जाने वाले भी दंगों के लिए उतने ही दोषी हैं।

यह समझना ही होगा कि सामुदायिक भेद-भाव का खुला प्रदर्ष्ठान करनेवाली राजनीतिक घटनाओं, प्रक्रियाओं, प्रस्तावों, वक्तव्यों की सभी देखने-सुननेवालों पर एक प्रतिक्रिया होती ही है। यदि उनसे समाज में क्षोभ पैदा हो, और उस क्षोभ का निराकरण न हो, न ही उस दु:ख, क्षोभ और आक्रोष्ठा को निकलने का कोई स्थान मिले-तो वह अस्वस्थकर भावना के रूप में एकत्र होता है। वह या तो किसी के मन में नये घाव बनाता है, या पुराने घाव को बढ़ाता है।

भारत में हिन्दू-मुस्लिम दंगे समय-समय पर उन्हीं घावों का सम्मिलित रूप से फूट पड़ना है। विगत सौ वर्षों से चल रही इसी प्रक्रिया का एक परिणाम देष्ठा का खूनी विभाजन भी था। स्वयं जिन्ना ने स्वीकार किया था कि बिना दंगे किए उन्हें पाकिस्तान नहीं मिलने वाला था। नेहरू ने मुस्लिम लीग की यही पहचान ही बतायी थी कि वह 'सड़कों पर हिन्दू-विरोधी दंगे करने के सिवाय और कुछ नहीं करती।' इस प्रकार, नेहरू और जिन्ना, दोनों के ही अनुसार मुस्लिम लीग ने दंगों को अपने हथियार के रूप में राजनीतिक इस्तेमाल किया। यदि यह ऐतिहासिक सत्य है, तो क्या आज वह बदल गया है। क्या आज मुस्लिम नेता अपनी चित्र-विचित्र माँगों के लिए कोई और तरीका या भाषा इस्तेमाल करते हैं। वह सब मीडिया में समय-समय पर सबको दिखाई देता है। इसलिए दंगों की पुरानी बीमारी के कारण भी कुछ नये नहीं हो गये हैं। यह ऐसा सदाबहार नजारा है, कि छिपाए भी नहीं छिप सकता। इसीलिए मिथ्याचार का सहारा लिया जाता है।

कुछ लोग दंगों का गणित चतुराईपूर्वक इस्तेमाल करते हैं, ताकि दंगों का व्याकरण छिपा लिया जाये! साथ ही, वे जिहादी आतंकवाद और साम्प्रदायिक दंगों को भी अलग-अलग करके देखने की जिद ठानते हैं, ताकि पुन: गणित की चतुराई चल जाये। इसीलिए वे जिहादियों द्वारा सदैव

किसी समुदाय विशेष को निशाना बनाकर की गयी सामूहिक हिंसा के गणित को 'साम्प्रदायिक हिंसा' के हिसाब से अलग करते हैं। फिर वे भारत, पाकिस्तान और बांग्लादेश में हिन्दुओं और मुसलमानों के विरुद्ध हिंसा और परिणामों को भी अपने गणित में नहीं जोड़ना चाहते। जबकि अन्ततः चाहे ये तीनों आज एक ही देश नहीं, पर दंगों की समस्या पर ऐतिहासिक रूप से विचार करने की दृष्टि से एक ही देश हैं! साथ ही, दंगों की समस्या के रूप में तो एक ही परिघटना के तीन दृश्य हैं। अतः भारत, पाकिस्तान और बांग्लादेश में समेकित रूप से हिन्दू-मुस्लिम 'दंगों' का हिसाब क्या है-यह छिपाना फिजूल है। बल्कि विपरीत परिणामदायक है।

मगर यही हो रहा है। यह सब वास्तविकता को छिपाने की बीमारी ही है। जबकि वास्तव में छिपता कुछ नहीं। न केवल भारत में, बल्कि दूसरे देशों में भी एक जैसी घटनाओं की पुनरावृत्ति अन्ततः सबको सच्चाई का आभास दे देती है। उलटे छिपाव के प्रयासों से गड़बड़ियाँ, जटिलताएँ बढ़ती हैं। हर हाल में, भारतीय समाज में हिन्दू-मुस्लिम दंगों की बीमारी की यथावत उपस्थिति बताती है कि हमने इतिहास से कुछ नहीं सीखा। इन दंगों और सभी साम्प्रदायिक हिंसा पर दुनिया-भर में इतनी विस्तृत सामग्री उपलब्ध है, कि उनका वैज्ञानिक विश्लेषण बिलकुल सटीक उपचार स्वतः सुझाता है।

फिलहाल उपचार के बारे में संक्षेप में इतना ही कि दंगों का मुख्य कारण और उसके दोषी उसे उकसानेवाले, आरम्भ करनेवाले और शामिल लोग नहीं-बल्कि वह मतवादी विचारधारा है जो अपने लोगों में दंगे, हिंसा और विशेषाधिकार की मानसिकता को पोषण देती है। उनकी दिन-रात मगज-धुलाई (इनडॉक्ट्रिनेशन) करती है। इसे पहचानना कठिन नहीं है। न ही इसे परास्त करना। यह रोचक और सुखद बात है कि यदि इस मतवादी विचारधारा को खुली वैचारिक चुनौती दी जाये तो बिना किसी हिंसा के यह हिंसक मानसिकता ध्वस्त हो जायेगी।

जो लोग उपर्युक्त बातों को 'किसी समुदाय के विरुद्ध घृणा फैलाना' कहते हैं, और बदले में झूठी-नकली मधुर बातें कह-कहकर दंगों या जिहादी आतंकवाद को शान्त करना चाहते हैं, उन्हें डॉ. कोएनराड एल्स्ट का एक अवलोकन याद रखना चाहिए। एल्स्ट ने अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर दिख रहे इस रोचक तथ्य को रेखांकित किया है कि जो लोग इस्लामी मतवाद की आलोचना करते हैं, उन्होंने कभी एक भी मुसलमान को शारीरिक चोट नहीं पहुँचायी है। जैसे रामस्वरूप, सीताराम गोयल, अरुण शौरी या एल्स्ट स्वयं। जबकि जो लोग इस्लाम को भरपूर श्रद्धा-सुमन चढ़ाते रहते हैं, जैसे जॉर्ज बुश, टोनी ब्लेयर, याहया खान, अल कायदा, हिजबुल मुजाहिदीन, लश्करे तोयबा, आदि- उन्हीं लोगों ने लाखों मुसलमानों को मारा है। सीधा आदेश देकर या स्वयं भाग लेकर। पाकिस्तान, अफगानिस्तान, ईरान, सीरिया, इराक, आदि देशों में मुसलमान किनके हाथों मारे जा रहे हैं। किसी 'समुदाय के विरुद्ध घृणा फैलाने' वाली लफ्फाजी में क्या इस तथ्य को भी हिसाब में

नहीं लेना चाहिए।

किसी विचारधारा के विरुद्ध कुछ कहना उस विचारधारा के अनुयायियों के विरुद्ध कहने के समान नहीं है। इस्लाम और मुसलमान दो बिलकुल भिन्न चीज हैं। एक की आलोचना दूसरे की नहीं मानी जानी चाहिए। जैसे तीस वर्ष पहले मार्क्सवाद-लेनिनवाद की आलोचना करना रूसियों या चीनियों के विरुद्ध घष्टा फैलाना नहीं होता था। इस्लाम को आलोचना से बचाने के लिए ऐसी ओछी चतुराई का सहारा लेना बताता है कि वास्तव में गड़बड़ी ठीक यहीं है।

संचार : सिद्धान्त, व्यावहारिक उपयोग एवं महत्त्व

डॉ. अरविन्द कुमार सिंह*

संचार करना मानव का एक बहुत ही सहज एवं स्वाभाविक गुण है। व्यक्ति जिस किसी भी भाषा, संस्कृति एवं परिवेश में पला-बढ़ा होता है, वह उसमें रहते हुए अपने ढंग से संचार प्रक्रिया को स्वत: ही सीखता रहता है। मनुष्य संचार प्रक्रिया को उम्र के उस दौर से सीखना आरम्भ करता है, जिस समय उसे बहुत सी अन्य प्रकार की बातों की जानकारी एवं समझ नहीं होती है। संचार प्रक्रिया को सीखने के लिए किसी प्रकार की औपचारिक शिक्षा एवं प्रशिक्षण नहीं दिया जाता है। एक बच्चा अपने परिवार में पलते-बढ़ते हुए संचार के लिए प्रयुक्त भाषा एवं इससे सम्बन्धित अन्य प्रकार के गुण स्वत: ही सीखता रहता है। यह प्रवृत्ति व्यक्ति में बाद के उम्र में भी बनी रहती है। संचार के सन्दर्भ में विविध प्रकार की सैद्धान्तिक बातें भी कही गयी हैं। ये सभी बातें संचार के मनोविज्ञान एवं समाजविज्ञान के अन्तर्गत अध्ययन से ज्ञात किये गये हैं। यहाँ पर संचार के विविध महत्त्वपूर्ण पहलुओं एवं संचार प्रक्रिया के कुछ मुख्य सिद्धान्तों के बारे में चर्चा की गयी है।

व्यक्ति संचार के विविध प्रकार के तरीकों को अपने निरीक्षण के आधार पर ही सीखता है। अनुभव एवं ज्ञान के आधार पर भी इसमें निखार भी आता है। संचार कला सीखने की प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न स्तर की होती है। कुछ व्यक्ति संचार कला को बहुत सतही स्तर पर ही सीख पाते हैं, वहीं पर बहुत से व्यक्ति संचार की इस कुशलता में काफी अधिक माहिर हो जाते हैं। उनकी सीखने की जबरदस्त प्रवृत्ति होती है। इसलिए वे संचार कार्य अन्य की तुलना में कहीं ज्यादा सफल एवं प्रभावी ढंग से करते हैं। संचार कला का विकसित होना काफी हद तक व्यक्ति के अभ्यास एवं उसकी इच्छा शक्ति पर निर्भर करता है।

संचार की आवश्यकता

संचार करना मानव का एक बहुत ही आधारभूत गुण एवं आवश्यकता है। संचार जीवन के सभी प्रकार के कार्यों की पृष्ठभूमि में शामिल होता है। यह किसी भी कार्य को करने के लिए मौखिक, लिखित या फिर अन्य प्रकार से इस्तेमाल किया जाता है। इसी प्रकार, किसी कार्य को

*पत्रकारिता एवं जनसंचार संस्थान, छत्रपतिशाहूजी महाराज विश्वविद्यालय, कानपुर

करने एवं उसे आगे बढ़ाने के लिए भी संचार का उपयोग किया जाता है। यह किसी भी मानवीय क्रिया-कलाप का एक अभिन्न अंग है और किसी प्रकार के कार्य के आरम्भ से ले करके उसके समापन के दौरान विविध रूप एवं तरीके से इसका इस्तेमाल किया जाता है। संचार मानव अस्तित्व के लिए बहुत ही आवष्ठयक है। एक बच्चा जन्म लेने के साथ ही रोने, चिल्लाने एवं अन्य प्रकार के गैर-ष्ठाब्दिक (नानवर्बल) क्रिया-कलापों के माध्यम से अपनी भावनाओं को व्यक्त करता है। मनुष्य विविध प्रकार के प्रतीक चिह्नों से ले करके वर्तमान में अत्याधुनिक संचार के साधनों जैसे मेल, फैक्स, ई-मेल, फोन के माध्यम से व्यक्ति एक दूसरे से संचार करता आ रहा है।

सही ढंग से किये जाने वाले संचार जीवन में सफलता प्राप्त होती है। कुष्ठाल संचार से जीवन की विभिन्न प्रकार की समस्याओं को आसानी से हल किया जा सकता है। संचार कला का व्यावसायिक दुनिया में भी बहुत महत्त्व रखता है।

विज्ञापन, जनसम्पर्क, मार्केटिंग जैसे क्षेत्र में कुष्ठाल संचार का अपना अलग ही महत्त्व है। पत्रकारिता एवं जनसंचार जैसे विषय की पूरी ष्ठिाक्षा विविध प्रकार के जनमाध्यमों के द्वारा बेहतर संचार करने के तरीके बताने के लिए मूल रूप से दी जाती है। मनुष्य के आम जीवन में तो इसकी काफी आवष्ठयकता पड़ती है। दैनिक जीवन के विविध प्रकार के कार्यों को पूर्ण करने में कुष्ठाल संचार आवष्ठयक है।

दूसरी तरफ, संचार प्रक्रिया के स्वरूप में विकष्ठित होने के कारण सामाजिक, पारिवारिक वातावरण खराब होता है। किसी प्रकार के सम्बन्ध के बिगड़ने में गलत ढंग से किये जाने वाले संचार की काफी महत्त्वपूर्ण भूमिका हो जाती है। इस प्रकार से किये जाने वाले संचार न केवल व्यक्तियों वरन् समूहों एवं देष्ठों के बीच भी सम्बन्धों को खराब कर सकते हैं।

जीवन में प्रभावी संचार का महत्त्व हमेष्ठा रहा है। किसी भी स्तर पर किये जाने वाले संचार को प्रभावी ढंग से करने की अपनी उपयोगिता है। संचार लोगों के बीच सम्बन्धों को बेहतर कर सकता है। यह घर, परिवार एवं विविध प्रकार के समाज एवं अन्य जगहों के सन्दर्भों में लागू होता है। सही ढंग से किया जाने वाला संचार लोगों के सम्बन्धों में गहराई लाता है और उसे बनाये रखने में मददगार होता है। यह टीम वर्क को भी मजबूत करता है। प्रभावी संचार एक सीखने की प्रक्रिया होती है।

संचार व्यक्तित्व की एक पहचान

संचार द्वारा लोगों को सूचना, ज्ञान, मनोरंजन देने के अतिरिक्त अन्य प्रकार की बातों की भी जानकारियाँ प्राप्त होती हैं। यह किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं उसकी जीवन-संस्कष्ठति के बारे में विस्तार से जानकारी प्रदान करता है। कोई व्यक्ति जिस प्रकार से संचार कर रहा होता है, उससे

उसकी भाषा, ज्ञान एवं समझ के बारे में भी जानकारी मिलती है। संचार के दौरान इस्तेमाल में लाये जाने वाले शब्दों एवं उसे प्रस्तुत किये जाने के ढंग से व्यक्ति के भौगोलिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की भी झलक मिलती है। यदि किसी व्यक्ति को संचार के बारे में मनोवैज्ञानिक स्तर पर बारीकी के साथ समझ है, तो फिर वह सामने वाले व्यक्ति के संचार में कही गयी बातों के आधार पर उसके बारे में बहुत प्रकार की जानकारियों को प्राप्त कर सकता है।

संचार एक कला

संचार एक कला है और इसे लगातार बेहतर बनाने की आवश्यकता होती है। यह जीवन में किसी प्रकार की सफलता पाने के लिए आवश्यक है। संचार विभिन्न जगहों पर होने वाले विविध प्रकार के क्रिया-कलापों को सही ढंग से प्रस्तुत करने के लिए भी यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण साधन है। कुशल संचार में प्रस्तुत शब्द एक जादू की तरह से होते हैं जो कि जटिल प्रकार की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते हैं। संचार कला में स्पष्टता, प्रभाव एवं आत्मविश्वास का काफी महत्त्व होता है।

सभी प्रकार के कार्य एवं क्रिया-कलाप को सही प्रकार से होने के लिए यह आवश्यक है कि हर व्यक्ति को स्पष्ट तौर पर बातचीत करे। उसे सही प्रकार की भाषा एवं शब्द के उपयोग के सन्दर्भ में जानकारी होनी चाहिए। इसी के साथ एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह भी है क यह अर्थात् संचार सिर्फ शब्द ही नहीं, वरन् व्यक्ति के बॉडी लैंग्वेज के माध्यम से भी सन्देश दिया जाता है। इस प्रकार के संचार गैर-शाब्दिक (नानवर्बल) संचार के अन्तर्गत आता है।

नानवर्बल संचार के अन्तर्गत बातचीत, कहने के ढंग, चेहरे की भाव-भंगिमा, हाथ आदि की स्थिति आदि संचार के प्रभाव के निर्धारण में काफी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। जब हम कुशल संचार की बात करते हैं तो इसका आशय सही परिप्रेक्ष्य में बात करना, सुनना और उसे सही समय पर एवं सही प्रकार से समझना रहता है। किसी व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह परिस्थितियों को सही प्रकार से समझे और उनको ध्यान में रख करके बातचीत करे।

संचार का बढ़ता दायरा

हमारे दैनिक जीवन में संचार प्रक्रिया का दायरा भी लगातार बढ़ता जा रहा है। पहले व्यक्ति एक निश्चित भू-भाग में रहता था, उसका आवागमन भी काफी कम होता था। जीवन में सीमित क्रिया-कलाप होते थे। इसलिए संचार का स्वरूप भी एक सीमित दायरे में ही किया जाता था।

किन्तु, अब स्थिति काफी बदल चुकी है। जीवन की व्यस्तता बढ़ने के साथ ही उसके अनुरूप हमें अपने कार्यों को निपटाने के लिए संचार कार्य को अधिक-से-अधिक करने की आवश्यकता हो रही है। व्यक्ति विविध प्रकार के क्रिया-कलापों में पहले की तुलना में अब काफी

अधिक ष्ठामिल हो रहा है। इस कारण उसे भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यक्तियों से विविध स्तरों पर संचार करने की आवष्ठयकता होती है।

मोबाइल एवं अन्य प्रकार के कई ऐसे संचार तकनीक भी विकसित हुए हैं, जिनसे वाचिक एवं लिखित दोनों प्रकार के संचार के स्वरूप में काफी बढ़ोत्तरी हुई है। अब व्यक्ति को हर प्रकार की स्थिति में संचार के लिए तैयार रहना पड़ता है। मोबाइल एवं अन्य संचार तकनीक के मनोवैज्ञानिक पक्षों से अभी भी हम काफी हद तक अनजान रहते हैं। इस कारण इन माध्यमों से संचार करने के दौरान कई प्रकार की समस्याओं का भी सामना करना पड़ता है।

पहले जहाँ बातचीत के लिए कुछ खास स्थितियाँ एवं स्थान होते थे, वहीं पर समय के साथ स्थिति में धीरे-धीरे काफी बदलाव भी होते गये हैं। अब तकनीक हर स्थिति एवं किसी भी समय पर बातचीत करने का अवसर प्रदान करते हैं। कई बार यह भी होता है कि हम बातचीत की स्थिति में नहीं होते हैं किन्तु बात करने के लिए मजबूर होते हैं। इसी प्रकार, सँभल करके संचार करने की आवष्ठयकता अब पहले से कहीं अधिक हो गयी है।

संचार में विष्ठवसनीयता

किसी भी प्रकार के संचार में व्यक्ति की विष्ठवसनीयता उसके प्रभाव डालने में काफी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। व्यक्ति की विष्ठवसनीयता कई प्रकार के कारकों पर निर्भर करती है। इसमें व्यक्ति का चरित्र, व्यक्तित्व, स्वभाव, संचार के दौरान उसके द्वारा दिखने वाला मंतव्य तथा किसी प्रकार के विषय के बारे में उसका ज्ञान जैसे पक्ष सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। यद्यपि कुछ संचार विष्ठोषज्ञ कुछ अन्य प्रकार के पक्षों पर भी जोर देते हैं। किन्तु, ये छः पक्ष सबसे महत्त्वपूर्ण हैं।

संचार करने वाले व्यक्ति की विष्ठवसनीयता कई स्तरों पर बनती है। उदाहरण के लिए, जब कोई वक्ता कहीं पर बातचीत आरम्भ करता है तो फिर उसके बारे में श्रोता आरम्भ में ही एक विचार बनाये रहते हैं। यह विचार श्रोता को वक्ता के बारे में पहले से प्राप्त जानकारी के आधार पर होती है। इसे आरम्भिक विष्ठवसनीयता कहा जा सकता है। संचार के दौरान वक्ता की बातों को सुन करके वे उसके बारे में उसके प्रति अपने मन में विष्ठलेषण करते रहते हैं। इस दौरान उसकी विष्ठवसनीयता कम ज्यादा होती रहती है। यह विष्ठवसनीयता मूल स्वरूप से हट करके होती है। फिर आखिर में श्रोता वक्ता की बात समाप्त होने के बाद सभी प्रकार की बातों के विष्ठलेषण के आधार पर अन्तिम तौर पर उसके बारे में अपना निष्कर्ष निकालता है। इस स्तर पर बनी विष्ठवसनीयता अन्तिम रूप से बनती है।

संचार में निरीक्षण

किसी प्रकार की घटना, वस्तु आदि के बारे में व्यक्ति अपनी इन्द्रियों की मदद से

जानकारी प्राप्त करता है। संचार में किये जाने वाले निरीक्षण को व्यक्ति विविध प्रकार से करता है। इस प्रकार के निरीक्षण के अपने कई चरण होते हैं। इस प्रकार यह एक सक्रिय प्रक्रिया है। निरीक्षण में किसी प्रकार के विषय वस्तु आदि के बारे में कोई व्यक्ति अपने अनुभव की मदद लेता है। इसके अतिरिक्त वह उसकी तुलना इससे मिलती-जुलती वस्तु, घटना से करके भी ज्ञात करता है। किसी प्रकार के संचार निरीक्षण में व्यक्ति कितना सफल हो पायेगा, इसमें उसकी उम्र, सेक्स बुद्धिमत्ता, व्यक्तित्व आदि की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। यही नहीं, यदि व्यक्ति को प्रशिक्षित कर दिया गया है, तो फिर वह संचार के दौरान कहीं अधिक बेहतर ढंग से निरीक्षण कर सकता है।

संचार के विविध स्तर

व्यक्ति विविध स्तरों पर संचार करता है। इसका वर्गीकरण कई प्रकार से किया गया है। किन्तु संचार कार्य में कितने व्यक्ति शामिल हैं, यह संचार के वर्गीकरण का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण आधार है। जब व्यक्ति अपने आप से संचार करता है, तो उसे आत्मकेन्द्रित संचार कहते हैं। जब वह किसी अन्य व्यक्ति से बातचीत करता है तो इस प्रकार के संचार को अन्तर्व्यक्ति संचार कहते हैं। इसी प्रकार, समूह में किये जाने वाले संचार को समूह संचार तथा बड़ी संख्या में लोगों से किया जाता है तो उसे पब्लिक या लोक संचार कहते हैं। इसी तरह से जब माध्यमों का इस्तेमाल करके दूर-दूर स्थित व्यक्तियों तक बातों को पहुँचाया जाता है तो उस समय इसे जन संचार या मास कम्युनिकेशन कहा जाता है।

संचार के उक्त वर्णित सभी प्रकार के स्तरों में जन संचार के स्वरूप काफी विस्तृत हैं। एक साथ बहुत ही विस्तृत क्षेत्र में फैले आडियन्स तक अपने सन्देश प्रसारित करता है। पारम्परिक तौर पर समाचार-पत्र, रेडियो, टीवी, फिल्म आदि जन संचार के बहुत ही सुपरिचित एवं प्रभावी माध्यम रहे हैं। इस प्रकार के संचार की मुख्य विशेषता विस्तृत क्षेत्र में रहने वाले विविध प्रकार के श्रोताओं के साथ एक साथ संचार किया जाना होता है। इसका स्वरूप काफी हद तक एक पक्षीय होता है तथा इसमें देर से फीडबैक प्राप्त होता है।

संचार में श्रवणशीलता

संचार एक पक्षीय प्रक्रिया नहीं है। इसमें दूसरे व्यक्ति की बात को सुनना एवं सही प्रकार से उसे समझने तथा उस पर समय से फीडबैक दिये जाने जैसे कार्य भी शामिल हैं। संचार प्रक्रिया सुचारु रूप से करने के लिए इसमें भाग लेने वालों में सुनने का गुण होना आवश्यक है। अधिकतर लोग अपनी बातों को तो कहना चाहते हैं, किन्तु दूसरे की बात को धैर्य के साथ सुनने के लिए वे अपने आपको तैयार नहीं कर पाते हैं; जबकि जरूरत इस बात की होती है कि यदि एक व्यक्ति

दूसरे की किसी प्रकार की बातों को सुना है या सुन रहा है तो फिर वह भी उस व्यक्ति की बातों की तरफ ध्यान दे। प्रभावी संचार दो तरफा होता है।

बातचीत के दौरान श्रोता द्वारा सामने वाले व्यक्ति को यदि सीधे नहीं देखा जा रहा है तो फिर इसका आष्ठाय यही है कि उसके नानवर्बल संचार को नहीं देख रहा है। दूसरी तरफ, अपनी तरफ ध्यान न देने की स्थिति में व्यक्ति स्वयं को उपेक्षित महसूस करता है। अपनी बात को सुना करके व्यक्ति को दूसरे से जुड़ाव भी महसूस होता है। किसी भी प्रकार की स्थिति में यदि लोगों की बातों को नहीं सुना जा रहा है, तो उस समय वे अपने मन में एक प्रकार से असन्तोष रखते हैं और वे अपनी बात न सुनने वाले के प्रति एक प्रकार की दुर्भावना भी रखते हैं। सुनने के दौरान किसी प्रकार के व्यवधान को भी सामने नहीं आने देना चाहिए।

सभी प्रकार की स्थिति में स्पष्ट तौर पर बातचीत करना काफी महत्त्वपूर्ण बात होती है। किन्तु इसका आष्ठाय यह नहीं है कि बहुत ही कठिन अथवा सजावटी ष्ठाब्दों का इस्तेमाल किया जाये। इसका अर्थ यही है कि किसी भी स्थिति के अनुसार सही ष्ठाब्द का चयन उसका सही गति, पिच अर्थात् आवाज के उतार-चढ़ाव तथा टोन के साथ प्रस्तुत करना होता है। प्रभावी संचार के लिए व्यक्ति का सही प्रकार से भौतिक उपस्थिति का काफी महत्त्व होता है। जब किसी व्यक्ति से आमने-सामने हो करके बातचीत किया जा रहा होता है, इसका मतलब यही है कि कोई व्यक्ति किस प्रकार से खड़ा है और उसके चेहरे की भाव-भंगिमा कैसी है और उसके हाथ किस प्रकार से कार्य कर रहे हैं।

संचार के दौरान कुछ खास स्थिति

संचार करने के दौरान विविध प्रकार की स्थिति भी उत्पन्न होती है। कुछ स्थितियाँ सकारात्मक होती हैं, वहीं कुछ स्थितियाँ ऐसी भी होती हैं जिसमें कि संचार बाधित होता है। अत: संचार करने के दौरान इस बात की पहचान की जानी चाहिए कि जिसमें कि व्यक्ति को यह जानकारी मिल सके कि बातचीत में तनावपूर्ण स्थिति आ रही है। संचार में तनावपूर्ण स्थिति आने पर साँस आदि तेज गति से चलने लगते हैं। ऐसी स्थिति में तत्काल निपट लेना ही ठीक होता है।

बातचीत में जब किसी प्रकार के संचार में अनावष्ठयक गम्भीर स्थिति उत्पन्न होती है, उस समय हँसी-मजाक करना जरूरी हो जाता है। इसी प्रकार, संचार के दौरान कई बार बहुत ही भावपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार की स्थिति के बारे में समय से पहचान कर लेना ठीक होता है, तभी समय से वक्ता द्वारा सबसे उबर पाना सम्भव हो पाता है। विविध प्रकार के भाव के अन्तर्गत क्रोध, दु:ख, भय, घष्ठा, आष्ठचर्य एवं खुष्ठी जैसे भाव आते हैं। वे कौन से कारक हैं जिनसे कि व्यक्ति किसी भाव विष्ठोष की स्थिति में जाता है, इस प्रकार की स्थिति से परिचित

होने के बाद वह उसके प्रति सावधान हो सकता है। इस प्रकार के भाव के प्रति जागरूकता के माध्यम से इस बात के प्रति भी जानकारी मिलती है कि लोगों को किस प्रकार की बात परेशान कर रही है और उसके बारे में किस प्रकार से बातें कहनी हैं।

गैर-शाब्दिक (नानवर्बल) संचार

वे सभी प्रकार के सन्देश जिन्हें कि कहने के बजाय किसी अन्य प्रकार से दिया जाता है, वे सब नानवर्बल संचार के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार के संचार का उपयोग स्वतंत्र एवं वर्बल संचार का एक अंग बनाकर दोनों तरह से किया जाता है। यदि विविध प्रकार के व्यक्तियों को बातचीत के दौरान ध्यान से देखा जाये तो कुछ नानवर्बल संचार सार्वभौमिक रूप में दिखते हैं और कुछ नानवर्बल संचार किसी खास संस्कृति से जुड़ करके अपना अर्थ देते हैं। संचार के दौरान नानवर्बल व्यवहार पर ध्यान देने से कई प्रकार की वे बातें पता चलती हैं, जिन्हें कि वह बातचीत के माध्यम से या तो नहीं कहता है अथवा उसे कहने की तरफ ध्यान नहीं देता है। ऐसे सन्देश नानवर्बल ढंग से ही व्यक्त होते हैं।

कई बार बात के हिसाब से नानवर्बल व्यवहार मैच नहीं करता है, उस स्थिति में जो जानकारी नानवर्बल व्यवहार से निकल करके सामने आती है, वही सत्य के रूप में लिया जाता है। बातचीत के दौरान बातों के कहने का उतार-चढ़ाव एवं शब्दों पर डाला जाने वाला जोर बात के भाव को बतलाता है।

नानवर्बल संचार किसी स्थिति विशेष के सन्दर्भ में ही अर्थ देता है। इसलिए उस स्थिति के अनुसार एक ही प्रकार का नानवर्बल संकेत भिन्न-भिन्न प्रकार की जानकारी देता है। इस बात के प्रति सावधान रहने की आवश्यकता होती है कि कोई नानवर्बल संकेत किस सन्दर्भ में कहा जा रहा है। बॉडी लैंग्वेज नानवर्बल संचार का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण रूप शरीर द्वारा दिये जाने वाले विविध प्रकार के संकेत होते हैं। इसमें मुस्कुराहट, आँखों से किये जाने वाले संकेत, चेहरे के विविध प्रकार के भाव, हाथों के संकेत से सन्देश की जानकारी मिलती है।

संचार प्रक्रिया के नये स्वरूप

लोगों के बीच अन्तर्व्यक्ति संचार बातचीत के माध्यम से ही होती रही है। अभी तक उपलब्ध संचार के तकनीकों में भी बातचीत के लिए आवाज एवं बॉडी लैंग्वेज का ही इस्तेमाल किया जाता रहा है। किन्तु संचार के नवीनतम साधन ने एक दूसरे से टेक्स्ट एवं ग्रैफिक का इस्तेमाल करके भी संचार की सुविधा उपलब्ध करा दी है। इस प्रकार, संचार प्रक्रिया के नये-नये स्वरूप भी विकसित होते जा रहे हैं। टेलीकॉन्फ्रेन्सिंग, ई-मेल, लाइव चैट आदि कुछ इस प्रकार के संचार के तरीके हैं, जिनके बारे में पहले कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। ये संचार के

परम्परागत स्वरूप में इस प्रकार से बदलाव ला दिये हैं जिससे कि आगे नये-नये फॉर्मेट में संचार करने की भी सम्भावना बनती दिख रही है। वर्तमान में सोष्ठाल साइट पर चैट करने के दौरान विविध प्रकार के इमोटिकान का भी इस्तेमाल किया जाने लगा है। ये एक प्रकार के ग्रैफिक हैं जो कि बातचीत के दौरान चेहरे से व्यक्त किये जाने वाले मनोभावों को व्यक्त करते हैं।

संचार के विविध सिद्धान्त

संचार के सन्दर्भ में विविध प्रकार के सिद्धान्त विकसित किये गये हैं। इसमें कई सिद्धान्त मूल रूप से मनोविज्ञान एवं सामाजिक विज्ञान जैसे विषयों से लिये गये हैं। मानव के बीच होने वाले संचार के सन्दर्भ में विविध प्रकार के सिद्धान्त विकसित किये गये हैं। ये सिद्धान्त विविध स्तरों पर किये जाने वाले संचार के सन्दर्भ में भी उपयोगी हैं।

बुलेट थियरी

इस सिद्धान्त को हेरोल्ड डि लासवेल ने सबसे पहले प्रतिपादित किया जो कि जन माध्यम के प्रभाव के सन्दर्भ में दिया गया। यह सिद्धान्त उसकी प्रभावी क्षमता की बात करता है। इसके अनुसार जनमाध्यम लोगों पर प्रत्यक्ष तौर पर तत्काल एक समान प्रभाव डालता है। जनमाध्यम लोगों के बीच एक समान विचार को निर्मित करता है। इसके माध्यम से लोगों के बीच वांछित विचार भी निर्मित किया जा सकता है। इस प्रकार, लोगों के बीच यह एक समान सोच एवं विचार पैदा करता है और किसी प्रकार के वांछित विचार पैदा कर सकता है।

किन्तु यह सिद्धान्त सभी स्थितियों में एक समान तौर पर प्रभावी नहीं होता है। उस समय, जबकि बहुत ही कम संख्या में जनमाध्यम रहे होंगे, और ऐसे माध्यमों पर लोगों की निर्भरता काफी अधिक रही होगी, तब उस पर प्रसारित किये जाने वाले कार्यक्रम को सुनने वाले उस पर अधिक विष्ठवास करते थे। किन्तु वर्तमान में बहुत बड़ी संख्या जनसंचार माध्यमों के आ जाने के कारण बुलेट थियरी कुछ खास स्थितियों में ही कारगर साबित हो पाती है।

लिमिटेड इफैक्ट थियरी ऑफ मास मीडिया

इस सिद्धान्त को सर्वप्रथम जोसेफ टी. क्लैपर ने 1960 में प्रस्तुत किया था। इसे मीडिया का सीमित या न्यूनतम प्रभाव कहते हैं। इसके अनुसार जनमाध्यम का प्रभाव बहुत ही सीमित ढंग से होता है। किसी प्रकार की घटना के सन्दर्भ में जनमाध्यमों की भूमिका के सापेक्ष जब अन्य प्रकार के मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक कारकों के बारे में विचार किया जाता है तो यही ज्ञात होता है कि वे कहीं अधिक प्रभावी रूप में कार्य करते हैं। व्यक्ति द्वारा धारण किया गया विचार, जिस किसी भी समूह से जुड़े हुए होते हैं, वे सब कहीं अधिक प्रभावी तौर पर कार्य करते हैं। किसी प्रकार के बदलाव लाने में विविध प्रकार के अवरोध आते हैं। अत: यह मान लेना कि संचार

माध्यमों के द्वारा तत्काल तौर पर वांछित बदलाव लाये जा सकते हैं, एक प्रकार से गलत धारणा है। जनमाध्यम यथास्थिति बनाये रखने में कहीं अधिक योगदान करते हैं। वे पहले से प्रचलित ध ारणाओं को बनाये रखने में सहयोग करते हैं।

अनसरटेण्टी थियरी ऑफ कम्युनिकेष्ठान

इस सिद्धान्त को सर्वप्रथम चार्ल्स बर्गर एवं रिचर्ड कैलेब्रिज ने 1975 में प्रस्तुत किया। इसे मीडिया का अनसरटेण्टी थियरी कहते हैं। संचार का यह सिद्धान्त दो व्यक्तियों या अन्तर्व्यक्ति संचार के सन्दर्भ में विष्ठोष रूप से लागू होता है। जब दो व्यक्ति आपस में मिलते हैं, तो उनकी मुख्य चिन्ता एक दूसरे के बारे में ज्यादा से ज्यादा जानकारी प्राप्त कर लेनी होती है, जिससे कि वे एक दूसरे से बातचीत सहजता एवं सुगमता के साथ कर सकें। संचार के दौरान लोग अपने बारे में जितना ही अधिक बातें बतलाते हैं और संचार एवं उससे जुड़ी प्रक्रिया को जितना ही अधिक करते हैं, उसी के अनुसार संचार करने वालों के बीच अनिष्ठितता भी कम होती है।

स्पायरल ऑफ साइलेंस थियरी

इस सिद्धान्त को एलिजाबेथ नोएला न्यूमैन ने दिया था। इसके अनुसार किसी भी प्रकार के समाज में जो विचार बहुसंख्यक लोगों का होता है, वही जनमाध्यमों में प्रभावी तौर से दिखाया जाता है। ये वे विचार हैं जो कि अल्पसंख्यक या कम संख्या में लोगों द्वारा धारण किया जाता हे, वे सामने नहीं आ पाते हैं। इस प्रकार के विचार धारण करने वाले लोग उसे व्यक्त करने में संकोच करते हैं।

यह सिद्धान्त उस स्थिति के लिए विष्ठोष उपयोगी है, जिसमें कि लोग अपने विचार बल देकर प्रस्तुत करते हैं। जब कुछ लोग यह महसूस करते हैं कि वे जिस विचार को रख रहे हैं, वह अल्पसंख्यक में है, उस समय वे अपने विचार बदल करके उस विचार दृष्टिकोण को ग्रहण कर लेते हैं जो कि बहुसंख्यक लोगों द्वारा धारण किया गया रहता है।

पर्सनल इन्फ्ल्यूएंस थियरी या व्यक्तिगत प्रभाव का सिद्धान्त

इस सिद्धान्त को सर्वप्रथम पॉल लेजरफेल्ड एवं उनके साथियों के द्वारा 1944 में दिया गया था। यह विचार प्रभाव के सन्दर्भ में दिया गया एक सिद्धान्त है। इसके अनुसार, जनमाध्यमों में दिया गया सन्देष्ठा लोगों पर सीधा प्रभाव नहीं डालता है, वरन् वह उनके बीच रहने वाले ओपिनियन लीडर द्वारा इन सन्देष्ठों के किये गये व्याख्या के अनुसार लोग अपने ढंग से अर्थ निकालते हैं। इस प्रकार, सन्देष्ठों के प्रभाव एवं विष्ठलेषण में ओपिनियन लीडर मुख्य भूमिका निभाता है। वह सन्देष्ठा को जिस प्रकार से व्याख्यायित करता है, उसी के अनुसार लोग समझते हैं। यह सिद्धान्त उन जगहों पर विष्ठोष रूप से लागू होता है, जहाँ पर कि पब्लिक में ओपिनियन लीडर की भूमिका अपेक्षाकष्ठ अधिक प्रभावी होती है। इस प्रकार, यह सिद्धान्त बुलेट सिद्धान्त के विपरीत है जो कि

सन्देष्ठा के प्रत्यक्ष प्रभाव की बात कहता है।

मीडिया इकोलॉजी थियरी

इस सिद्धान्त को मार्ष्ठाल मैकलूहान ने दिया था। किसी भी प्रकार के माध्यम को उसके परिवेष्ठा के सन्दर्भ में ही समझना चाहिए। माध्यम के संचार तकनीक में बदलाव के कारण संचार के परिवेष्ठा भी बदल जाते हैं, जिससे कि उसके प्रति लोगों का नजरिया भी भिन्न-भिन्न होता है। इस सन्दर्भ में 'मीडियम इज दि मैसेज' मार्ष्ठाल मैकलूहान की एक बहुत ही प्रसिद्ध अवधारणा है। इस प्रकार, एक ही सन्देष्ठा को रेडियो, टीवी, समाचार-पत्र एवं इण्टरनेट आदि माध्यमों से दिये जाने पर लोग उससे भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रभावित होते हैं।

एजेण्डा सेटिंग थियरी

मैक्सवेल मैकम्ब एवं डोनाल्ड ष्ठॉ ने इस सिद्धान्त को 1972 में प्रस्तुत किया। इसके अनुसार जनमाध्यम हमारे बीच उन विषयों मुद्दों की एक सूची प्रस्तुत कर देते हैं, जिन पर हम अपने-अपने ढंग से विचार व्यक्त करते हैं या फिर उस पर चर्चा करते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार मीडिया की भूमिका लोगों के सोचने के विषय निर्धारण में मुख्य रूप से होती है। वह समाज में लोगों को यह जानकारी प्रदान करता है कि वर्तमान में कौन सा विषय महत्त्वपूर्ण है, जिस पर कि विचार व्यक्त किया जाना है। उससे प्रभावित हो करके लोग उन विषयों को छोड़ भी देते हैं जो कि महत्त्वपूर्ण तो होते हैं किन्तु मीडिया में उचित जगह नहीं पाते हैं।

गेट कीपिंग थियरी

गेट कीपिंग सिद्धान्त को जर्मन विष्ठोषज्ञ के.जेड. लूइन ने दिया। यह सिद्धान्त किसी प्रकार की संचार प्रक्रिया में ष्ठामिल व्यक्तियों की भूमिका के बारे में जानकारी देता है। यह जन माध्यमों के सन्दर्भ में विष्ठोष तौर पर प्रस्तुत किया जाता है। इसके अन्तर्गत किसी प्रकार के समाचार सन्देष्ठा आदि को प्रकाष्ठान, प्रसारण या इण्टरनेट पर डालने से पहले उसे फिल्टर किया जाता है, या उसमें से ऐसे सन्देष्ठा या उसके उस अंष्ठा को हटा दिया जाता है, जिसे कि वह किसी कारणवष्ठा नहीं देना चाहता है। यह कार्य समाचार-पत्रों में तो रिपोर्टर के स्तर से ही लागू हो जाता है। फिर उसके बाद समाचार सम्पादक एवं अन्य व्यक्ति गेट कीपिंग प्रक्रिया में भाग लेते हैं। व्यावहारिक जीवन में भी व्यक्ति जब भी कहीं एक जगह पर किसी प्रकार की बात को सुनता है तो फिर उसे दूसरे स्थल पर अपने ढंग से इस प्रकार से प्रस्तुत करता है कि उसमें तमाम बातें फिल्टर हो जाती हैं।

कग्नोटिव डिजोनेंस थियरी

इस सिद्धान्त को लियान फेस्टिंगर ने दिया था। यह बातचीत के दौरान उत्पन्न वह स्थिति

है जिसके अनुसार जब दो प्रकार के विचार, विष्ठवास, मूल्य आदि एक साथ मस्तिष्क में उत्पन्न हुए होते हैं। यह किसी प्रकार के विचार आइडिया प्रतिक्रिया आदि के सन्दर्भ में लागू होता है। उस समय व्यक्ति एक प्रकार से असन्तुलन महसूस करता है और उसे दूर करने के लिए प्रयास करता है। इस प्रकार के तनाव को कम करने के लिए या तो अपने मूल विचार को बल देते हैं या फिर विरोधी विचार को मजबूती से बना लेते हैं।

कल्टीवेष्ठान थियरी

इस सिद्धान्त को जॉर्ज गर्बनर ने 1976 में दिया। इस सिद्धान्त के अनुसार वर्तमान में टीवी लोगों के बीच स्टोरी कहने का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्रोत बन गया है। लोगों द्वारा एक लम्बे समय तक लगातार टीवी को देखने के कारण वह उनमें दुनिया के बारे में विचार बनाने में काफी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। लोग इसी के आधार पर दुनिया के बारे में अपनी अवधारणा विकसित करते हैं। जो व्यक्ति जितना ही अधिक समय टीवी के सामने व्यतीत करता है, वह उसी के अनुसार उसमें दिखाये गये सामाजिक आदि विषयों के बारे में उसी ढंग से प्रभावित होता है। टीवी के दर्ष्ठाकों को कई वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। इसमें ऐसे दर्ष्ठाक जो कि हैवी व्यूवर होते हैं, वे टीवी में दिखाये जाने वाली सामग्री से अधिक प्रभावित होते हैं।

मीडिया डिपेन्डेंसी थियरी

यह सिद्धान्त मेल्विन डि. फ्ल्योर एवं सान्द्रा बाल ने 1975 में दिया। इस सिद्धान्त के अनुसार लोग जन माध्यमों पर जितना ही अधिक निर्भर होते हैं उनके लिए जनमाध्यम उतना ही अधिक महत्त्वपूर्ण होता है और मीडिया का उतना ही अधिक प्रभाव भी होता है। सामाजिक संस्थाएँ तथा मीडिया एवं ऑडियन्स एक प्रकार से इण्टरैक्ट करती हैं जिससे कि उनकी रुचि आवष्ठयकता आदि में वष्ठद्धि होती है।

इसलिए विविध प्रकार के माध्यम अपने कार्यक्रमों के विषयवस्तु इस प्रकार से बनाते हैं जिससे कि लोग उसे अधिक से अधिक देखने के लिए बाध्य हों।

डिफ्यूजन ऑफ इन्नोवेष्ठान थियरी

इस सिद्धान्त को ई.एम. रोजर ने प्रतिपादित किया था। इसे डिफ्यूजन ऑफ इन्नोवेष्ठान के नाम से जाना जाता है। यहाँ पर इन्नोवेष्ठान किसी प्रकार का नया आइडिया विचार या व्यवहार आदि को कहा जाता है। इसी प्रकार डिफ्यूजन वह प्रक्रिया है, जिसके अन्तर्गत किसी प्रकार के नये आइडिया को किसी चैनल के माध्यम से एक समयान्तराल में समाज के विविध सदस्यों के बीच संचारित किया जाता है। यह सिद्धान्त इस अवधारणा पर आधारित है कि कोई भी नये प्रकार का

समाजोपयोगी कार्य जब लोगों के बीच दिखाया जायेगा तो फिर उसे देख करके उस प्रकार के कार्य करने के लिए अन्य लोग भी प्रेरित होंगे।

यूज एण्ड ग्रेटिफिकेष्ठान थियरी

इस सिद्धान्त को 1959 में जे.गी. ब्लूम्लर एवं ई. काज द्वारा दिया गया। यहाँ पर यूज का आष्ठाय उपयोग करने से है। इसी प्रकार से ग्रेटिफिकेष्ठान को आष्ठाय किसी प्रकार की उस सन्तुष्टि से है जो कि लोग मीडिया के उपयोग के पष्ठचात महसूस करते हैं। मीडिया के इस्तेमाल करने वाले उसके उपयोग एवं चयन में काफी सक्रिय भूमिका निभाते हैं और अपने इस कार्य में अपना इस प्रकार से लक्ष्य बना करके चलते हैं जिससे कि मीडिया उसे पूरा करने में समर्थ हो सके। विष्ठोषज्ञों के अनुसार इस प्रकार के विचार की पष्ठठभूमि बीसवीं सदी के चालीस के दष्ठाक में ही आरम्भ हो गयी थी। उस समय लोग रेडियो से उन्हीं कार्यक्रमों को सुनते थे जो कि उनके लिए उपयोगी एवं सन्तुष्टि प्रदान करने वाला हो। बाद में बात टीवी से प्रसारित किये जाने वाले कार्यक्रमों के सन्दर्भ में भी लागू किया जाने लगा।

प्ले थियरी

इस सिद्धान्त को विलियम स्टिफेंसन ने 1967 में विकसित किया था। इसके अनुसार जनमाध्यमों का उपयोग न तो किसी प्रकार से लोगों के बीच उनके विचलन के लिए होता है और न ही यह उनको सन्तुष्ट करने के लिए होता है। यह एक प्रकार से एण्टिएंजाइटी पैदा करने वाला होता है जिसे कि कम्युनिकेष्ठान प्लेजर के रूप में देखा जाता है। इसके कार्यक्रमों को देख करके लोग एक प्रकार के आनन्द का भाव महसूस करते हैं। इस प्रकार मीडिया को लोग एक मनोरंजन के साधन के रूप में देखते हैं।

मॉडलिंग विहैवियर थियरी

इसे सोष्ठाल लर्निंग सिद्धान्त भी कहते हैं। इसे अल्बर्ट बान्दुरा ने 1977 में प्रतिपादित किया। इसके अनुसार किसी प्रकार के व्यवहार को लोग अपने परिवेष्ठा के आस-पास सब कुछ देख करके सीखते हैं। बच्चे अपने चारों तरफ हो रहे क्रिया-कलापों के माध्यम से विभिन्न प्रकार के ढंग सीखते हैं। वे व्यवहार जो कि मीडिया के माध्यम से प्रस्तुत किये जाते हैं, यदि वे उपयोगी हैं तो फिर वे अपने कार्य व्यवहार में स्थायी रूप में एक आदत के रूप में बन जाते हैं। किन्तु इस प्रकार की बातें किसी प्रकार की नकारात्मक बातों के सन्दर्भ में लागू नहीं होती हैं।

जनमाध्यम इस प्रकार के विविध आदत स्वभाव विकसित करने में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। उसमें प्रस्तुत किये गये दष्ठश्य कैरेक्टर को देख करके वे उसी अनुसार स्वयं को भी विविध प्रकार से व्यक्त करना चाहते हैं। अपनी अभिव्यक्ति के तरीके में उसके अनुसार बदलाव लाते हैं।

फोर थियरी ऑफ प्रेस

इस सिद्धान्त को टी. पैटर्सन, विल्बर श्रैम एवं एफ. साइबर्ट ने दिया था। बाद में डेनिस मैक्वल ने इसमें अपने सिद्धान्त को भी जोड़ दिया। इसे मीडिया का नार्मेटिव सिद्धान्त भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत प्रेस का अथारिटेरियन, लिबरटेरियन, सोष्ठाल रिस्पांसिबिलिटी, सोवियत रिस्पांसिबिलिटी सिद्धान्तों को पहले दिया गया एवं बाद में डेनिस मैक्वल ने उसमें डेमोक्रेटिक पार्टिसिपेष्ठान एवं मीडिया डेवलपमेण्ट सिद्धान्तों को जोड़ दिया। ये सभी सिद्धान्त अपने-अपने ढंग से मीडिया व्यवहार के बारे में बतलाते हैं।

न्यू मीडिया थियरी

न्यू मीडिया सिद्धान्त के अन्तर्गत मीडिया एवं नये मीडिया दोनों के बारे में अध्ययन किया जाता है। इन दोनों मीडिया का आपस में संलयन करके एक भूमण्डलीय परिवेष्ठा तैयार करते हैं। इसने लोगों के हमारे सभी प्रकार के कार्य एवं करने के ढंग को प्रभावित किया है।

उपर्युक्त वर्णित संचार सिद्धान्तों के अतिरिक्त संचार के क्षेत्र में अन्य सिद्धान्त भी दिये गये हैं। उदाहरण के लिए नारकोसिस सिद्धान्त के अनुसार माध्यम लोगों के लिए एक प्रकार के नष्ठा के समान है। जिस प्रकार से व्यक्ति पर ड्रग का असर होता है और वह बहुत ही निष्क्रिय अवस्था में चला जाता है, उसी प्रकार से मीडिया भी लोगों को वास्तविक स्थिति से दूर ले जाता है। सामूहिक सोच की अवधारणा (ग्रुप थिंक कॉन्सेप्ट) के अनुसार एक समूह में रहने वाले लोग एक ही प्रकार के सोच एवं प्रवष्टि रखने लगते हैं। मैनीपुलेटिव अवधारणा के अनुसार मीडिया किसी प्रकार की घटना को काफी हद तक बदल करके प्रस्तुत करने की क्षमता रखती है।

उक्त वर्णित सभी सिद्धान्तों की अपनी-अपनी सीमाएँ हैं। मानव संचार व्यवहार के इतने आयाम हैं कि संचार के सन्दर्भ उन सबको किसी एक ही सिद्धान्त के अन्दर नहीं व्यक्त किया जा सकता है। इसे इस प्रकार से भी कह सकते हैं कि संचार तकनीक एवं मानव सभ्यता में बदलाव के कारण मानव संचार व्यवहार के बारे में नये-नये प्रकार के सिद्धान्तों का भी निर्माण होता जा रहा है। वह नये-नये अन्दाज में संचार व्यवहार करता है। इसलिए समय के साथ संचार सिद्धान्तों के नये-नये रूप भी सामने आते रहेंगे।

सन्दर्भः

1. John Vivian; The Media of Mass Communication, 10th edition 2011, PHI Learning Private Limited.
2. Joseph A. Devito; An Introduction to the Study of Communicology; Harper and Row publisher, USA, 1978.
3. Robert L. Heath; Jennings Bryant, Human Communication Theory and Research : Concepts,

Contexts, and Challenges; Lawrence Erlbaum Associates, 2000 (2nd edition).

4. John O. Greene; Message Production : Advances in Communication Theory; Lawrence Erlbaum Associates, 1997.

5. Lynda Lee Kaid; Handbook of Political Communication Research; Lawrence Erlbaum Associates, 2004

6. Mass Media and National Development; W. Schramm.

उच्च शिक्षा की समस्याएँ

कैलाश चन्द्र मिश्र*

शिक्षा मनुष्य का पुनर्जन्म है। शिक्षा के द्वारा वह संस्कारित होता है। शिक्षा के माध्यम से वांछनीय सामाजिक परिवर्तन का प्रयास समय-समय पर किया गया है। शिक्षा के द्वारा न केवल व्यक्ति वरन् समाज के जीवन में अपेक्षित परिवर्तन लाया गया है। जब-जब शिक्षा जीवन से दूर होती है, तब-तब प्रायः प्रत्येक देश के विचारकों ने प्रयास किया है कि शिक्षा से जुड़ जाय और इस प्रकार 'जीवन शिक्षा' का रूप ग्रहण कर ले। 'जीवन शिक्षा' एक ऐसी शिक्षा है जो जीवन के लिए और जीवन के द्वारा चलती रहती है।

शिक्षा का माध्यम हिन्दी या मातृभाषा होना चाहिए। पं. मदन मोहन मालवीय का यह निश्चित मत था कि मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा होनी चाहिए। इन दिनों हमारे देश में माध्यम के प्रश्न पर जो विवाद हो रहा है उसके सन्दर्भ में मालवीय जी का यह कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, "भविष्य में हिन्दुस्तान की उन्नति हिन्दी को अपनाने से हो सकती है।" 200 वर्ष की गुलामी का ही परिणाम था कि हमारे देश में शिक्षा का माध्यम विदेशी भाषा बनी। आज भी शहरों में अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों की संख्या घटने के स्थान पर बढ़ती ही जा रही है। विदेशी भाषा के माध्यम से जिसके जरिये आज भी भारत में उच्च शिक्षा दी जाती है, हमारे राष्ट्र को अपार बौद्धिक एवं नैतिक हानि पहुँची है। अभी हम अपने इस जमाने के इतने पास हैं कि इस नुकसान की भयंकरता का ठीक अन्दाज नहीं लगा सकते। इसके सिवाय ऐसी शिक्षा पाने वाले हम लोगों को इसका शिकार और न्यायाधीश दोनों बनना है, जो लगभग असम्भव काम है।

गाँधी जी के अनुसार शिक्षा बालक के सर्वांगीण विकास का साधन है। 'एजूकेशन' शब्द का मूल अर्थ होता है, भीतर से बाहर की ओर बढ़ना। गाँधी जी इसके इसी अर्थ को स्वीकार करते हैं। वह लिखते हैं, "शिक्षा से मेरा अभिप्राय बालक और मनुष्य में शरीर, मन और आत्मा के विचार से सर्वोत्तम को चतुर्दिक बाहर प्रकट करना है।"

जब उनसे एक बार पूछा गया कि भारत स्वतंत्र हो जायेगा तो आपकी शिक्षा का क्या लक्ष्य होगा? इसके उत्तर में गाँधी जी ने कहा- 'चरित्र निर्माण'। गाँधी जी साक्षरता की अपेक्षा चरित्र निर्माण

*5/1082, विरामखण्ड, गोमतीनगर, लखनऊ

को अधिक आवश्यक समझते थे। उनका कथन था कि समस्त ज्ञान का उद्देश्य चरित्र निर्माण होना चाहिए। जो शिक्षा चरित्र निर्माण में सहायक नहीं होती, वह व्यर्थ है। गाँधी जी शिक्षा का चरम या सर्वोत्तम उद्देश्य अन्तिम वास्तविकता का अनुभव एवं आत्मानुभूति का ज्ञान मानते थे। उनका मत था कि मनुष्य के जीवन का लक्ष्य सत्य की प्राप्ति है।

उच्च शिक्षा में अनुशासन का अत्यधिक महत्त्व है। आचार्य नरेन्द्रदेव लखनऊ विश्वविद्यालय और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति रहे। चूँकि वे स्वयं अनुशासित थे इसलिए उनका शिक्षा के क्षेत्र में अनुशासन को महत्त्व प्रदान करना स्वाभाविक था। आचार्य नरेन्द्र देव कहते थे कि विद्यार्थियों में अनुशासन स्थापित करने के लिए शिक्षक को स्वयं अनुशासित होना चाहिए। यदि अध्यापक अनुशासित नहीं होता तो वह विद्यार्थियों में अनुशासन की भावना नहीं उत्पन्न कर सकता। आचार्य जी दमनात्मक अनुशासन के विरोधी थे और विद्यार्थियों के दण्ड देने में उनका विश्वास नहीं था। वे अनुशासन के प्रभावात्मक तथा बुद्धिवादी सिद्धान्त के समर्थक थे। गाँधी जी भी इसी मत के थे। प्रसिद्ध विद्वान् पोलक ने अपनी पुस्तक 'शिक्षा में गाँधी जी का प्रयोग' में लिखा है, "मि. गाँधी के चरित्र पर विचार करते हुए यह बहुत स्वाभाविक है कि वह शारीरिक दण्ड में केवल अविश्वास ही नहीं करते थे, बल्कि विद्यार्थियों के साथ व्यवहार करने में उसे प्रयोग करने को मना भी किया है। उन्होंने स्वयं सुधारवादी दृष्टिकोण को सामने रखा है। वे आत्मानुशासन पर बल देते थे। साथ ही गाँधी जी विश्वविद्यालय का वातावरण इस प्रकार रखना चाहते थे कि बालकों में अनुशासनहीनता की भावना उत्पन्न ही न हो। गाँधी जी की समस्त शिक्षा प्रणाली सहयोग, मित्रता और सहकारिता पर आधारित थी। फलस्वरूप इस प्रणाली के अन्तर्गत शिक्षा दिये जाने में इतनी फुर्सत ही नहीं मिलती थी कि वह अनुशासनहीन हो सके।"

शिक्षा मनुष्य के व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास का साधन है। वास्तविक शिक्षा वही है जो शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक सभी प्रकार के विकास में सहायक होती है। शिक्षा के द्वारा विद्यार्थी में निहित समस्त गुणों का विकास होता है। शिक्षा उपयोगी नागरिकों के निर्माण में सहायक होती है।

शिक्षा में आत्मनिर्भरता की भावना उत्पन्न करने की क्षमता होनी चाहिए। विद्यार्थियों में सामाजिक वातावरण को समझने की क्षमता उत्पन्न करनी चाहिए। शिक्षा को सामाजिक वातावरण से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होना चाहिए। शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिए कि बेरोजगारी का अन्त हो और सभी को काम का अवसर मिले।

लोकतंत्र की नर्सरी कहे जाने वाले विश्वविद्यालयों में लिंगदोह कमेटी की संस्तुतियों के आधार पर छात्रसंघ का चुनाव किया जाना है। छात्रसंघ चुनाव लड़ने के लिए उम्मीदवार की आयु

सीमा, उसका शील एवं अनुशासनप्रिय व्यवहार निर्वाचन, निर्वाचन व्यय की सीमा एवं राजनीतिक दलों को छात्रसंघों से पृथक रहना तर्कसंगत है। छात्रसंघों की रचना का उद्देश्य है कि छात्र अपनी समस्याओं का समाधान पाने के लिए संगठित होकर प्रशासन से वार्ता कर सकें। अकेला छात्र ऐसा करने में दुर्बल पड़ जाता है। विश्वविद्यालयों में छात्रों की समस्याएँ होती हैं कि कक्षाओं और प्रयोगशालाओं में अध्ययन के लिए अध्यापक नियमित रूप से आयें। पुस्तकालयों में पुस्तकें हों, पुस्तकें मिलने में सुविधा हो, वाचनालय में बैठकर पढ़ने की सुविधा हो, परीक्षाएँ समयानुसार हों, छात्रालयों में स्थान आवंटन न्यायोचित हों, वहाँ आवासीय प्रबन्ध निवास योग्य हों, कार्यालयों में उनका कार्य सुचारु रूप से हो। इन समस्याओं में देश के राजनीतिक दलों की रुचि की कोई सामग्री नहीं है। अतः वे छात्रसंघों की राजनीति को 'स्वायत्त' ही रहने दें।

अच्छा होता कि विश्वविद्यालय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्रसंघ का अनुसरण करते जिसका गठन महामना पं. मदन मोहन मालवीय ने किया था। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में मालवीय जी ने छात्रसंघ के स्थान पर छात्र संसद का गठन किया था जिसके पदाधिकारियों को चुनाव लड़ने से पहले वाद-विवाद प्रतियोगिता में भाग लेना पड़ता था। विजयी तीन छात्र ही चुनाव लड़ सकते थे। सबसे अधिक मत पाने वाला बी.एच.यू. कण्ट्री का प्रधानमंत्री होता था। उससे कम मत पाने वाला नेता विरोधी दल का होता था। छात्र संसद के संचालन के लिए प्रिवी कौंसिल थी। स्पीकर का नामांकन कुलपति करता था। प्रधानमंत्री पद को अच्युत पटवर्धन, डॉ. राम मनोहर लोहिया, श्री जगजीवन राम, श्री लक्ष्मीकान्त झा तथा सुचेता कृपलानी आदि राजनेता सुशोभित कर चुके हैं। 1952 में आचार्य जी के कुलपति पद पर बैठते ही छात्र संघ भी अस्तित्व में आया।

संविधान के अनुच्छेद 19 (1) (ग) में भारत के नागरिकों को संघ बनाने का अधिकार दिया गया है। यह एक मूल अधिकार है। कोई ऐसी विधि नहीं बनायी जा सकती जिससे भारत के नागरिकों को अपना संघ बनाने से अवरुद्ध किया जा सके। लेकिन उच्चतम न्यायालय ने टीकाराम जी बनाम उत्तर प्रदेश राज्य (ए.आई.आर. 1995 सु को 676) में यह भी अभिनिर्धारित किया है कि इसी अधिकार के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार भी प्राप्त है कि वह इस संघ का सदस्य न बने। इस पर किसी संघ को अनिवार्य सदस्यता लादी नहीं जा सकती। वस्तुतः छात्र संघ की अनिवार्य सदस्यता उन छात्रों की इस स्वतंत्रता का उल्लंघन है, जो छात्र संघ के सदस्य नहीं बनना चाहते।

विश्वविद्यालय के छात्र संघ विद्यार्थियों के विकास की सीढ़ी रहे हैं। आजादी के पहले छात्र संघ के झण्डे के नीचे ही छात्रों ने विदेशी हुकूमत से संघर्ष किया। लखनऊ में अन्सार हरवानी, सैय्यद मोहम्मद जफर, माखनलाल मिश्र, शंकरदयाल शर्मा, इलाहाबाद में नारायणदत्त तिवारी, पंचानन मिश्र, आसिफ अन्सारी, बनारस में श्री राजनारायण सिंह, प्रभुनारायण सिंह, डॉ. के.एन. गैरोला और डॉ. रामचन्द्र शुक्ल प्रमुख स्वतंत्रता संग्राम सेनानी रहे हैं। आजादी के बाद जिन लोगों ने छात्र संघ

के अस्तित्व और अस्मिता के लिए संघर्ष किया उनमें प्रमुख थे श्री चन्द्रपाल त्रिपाठी, रॉबिन मिश्र, विनय चन्द्र मिश्र, श्री ओ.पी. मेहरोत्रा, बशिष्ठेष्ठा सिंह, के.पी. तिवारी, श्री रामायण राय, श्री सतीष्ठा कुमार, श्री आनन्देष्ठवर सिंह, आनन्द देव गिरि, श्री के.सी. मिश्र, श्री कल्पनाथ राय, श्री राम प्रवेष्ठा ष्ठास्त्री, श्री ष्ठयाम मिश्र, ष्ठयाम कष्ठ्ण पाण्डेय, श्री रजनीकान्त वर्मा और श्री धर्मवीर गोस्वामी। विष्ठवविद्यालय यूनियन का संगठन इस प्रकार का होना चाहिए कि विद्यार्थी आत्मनिर्भर बन सकें। विष्ठवविद्यालय में किये गये उत्पादन द्वारा उनका खर्च निकाला जाना चाहिए। इस प्रकार गाँधी जी विष्ठवविद्यालय को एक कर्मष्ठाला का रूप प्रदान करना चाहते थे। उनका विचार था कि विष्ठवविद्यालयों को ऐसे समुदायों में बदल दिया जाना चाहिए जहाँ विद्यार्थियों की वैयक्तिकता नष्ट न हो, परन्तु साथ ही उनमें सामाजिक सम्पर्कों एवं सेवा की भावना का विकास हो। विष्ठवविद्यालय को राज्य द्वारा सहायता प्रदान की जानी चाहिए, परन्तु मुख्य रूप से समाज की सहायता से ही निर्माण होना चाहिए। डॉ. राम मनोहर लोहिया ने लोकसभा में भाषण देते हुए कहा था, "युवजनों के साथ उनके नेताओं का जबर्दस्त अन्याय हुआ है। इस दोष में युवजन खुद भी भागीदार हैं। उन्होंने अपने नेताओं की आदतों, कार्य-प्रणालियों और सोच के ढाँचों की नकल सीखी है। ऐसे नहीं होना चाहिए। युवावस्था में राजनीति ज्यादा आदर्ष्ठी और कम यथार्थी होनी चाहिए। बूढ़ों और अधेड़ों की राजनीति में यथार्थ ज्यादा आ जाता है जिसका अर्थ है चाल, तिकड़म, दाव, स्वार्थ, गुटबाजी, साजिष्ठ वगैरह। युवजनों को ऐसे कामों को तो कौन कहे ऐसी बातों से भी दूर रहना चाहिए। यह बड़े दु:ख की बात है कि बीस वर्ष वालों का पच्चीस-तीस वर्ष वाला नेतष्ठ्व अब नहीं है इसलिए युवजनों को खुद खबरदार होना चाहिए। एक बीस-पच्चीस की उम्रवाले को सोचना चाहिए, कुर्सी की बात नहीं ष्ठाक्ति की, समाज को बदलने की पदार्थनिष्ठ बात न कि वह व्यक्तिनिष्ठ तरकीबें जिनसे भला किया जा सके।"

हमारे देष्ठा में युवाओं की संख्या 54 करोड़ से अधिक है। युवा पीढ़ी देष्ठा का भविष्य होती है। पर इतनी युवा ष्ठाक्ति होने के बावजूद आज भी हमारा देष्ठा विकासष्ठील राष्ट्र की पंक्ति में है। ग्रामीण एवं ष्ठाहरी क्षेत्रों में बिखरी युवा ष्ठाक्ति का अगर समुचित उपयोग किया जाय तो राष्ट्र की तकदीर बदल सकती है। परन्तु युवाओं के काम के समुचित अवसर नहीं मिलने से युवा धन किसी काम का नहीं रह गया है। आजादी प्राप्त होने के इतने साल बाद एक चिन्तक राष्ट्रपति एवं विष्ठलेषक प्रधानमंत्री की तमन्ना पूरी हुई है। परन्तु क्या उनके द्वारा बनायी गयी योजनाएँ साकार रूप ले पायेंगी। भारत महाष्ठाक्ति ही नहीं विष्ठवष्ठाक्ति बनने की क्षमता रखता है। पर उसके लिए जरूरत है ऐसे नेतष्ठ्व की जो राष्ट्र को नयी दिष्ठा की ओर अग्रसर कर सके और देष्ठा की युवा ष्ठाक्ति को एकजुट कर उसका समुचित उपयोग कर सके। अत: सरकार को देष्ठा और प्रदेष्ठा में युवाओं की भागीदारी सुनिष्ठिचत करनी चाहिए। तभी विकसित राष्ट्र का सपना साकार हो पायेगा।

अमेरिका की सर्वेक्षण कराने वाली गैलप कम्पनी ने एक ताजे ष्ठोध में बताया है कि दुनिया-भर में राजनेताओं पर भरोसा तेजी से घट चला है। गैलप रपट कोई चेतावनी दे रही है तो यह कि लोकतंत्र की दिष्ठा और दष्ठा के रखवाले राजनेताओं से जनता का मोहभंग दुनिया को अन्ततः कहीं एक उद्दाम और अनियंत्रित कार्पोरेट बाजारवाद के हवाले न कर दे। जो पूँजी की स्वतंत्रता के पक्ष में है न कि मानवाधिकारों के। मानव गरिमा स्वतंत्रता और उसे थामनेवाला एक मजबूत लोकतांत्रिक ढाँचा आज यूरोप और अमेरिका में ही नहीं हमारी ग्लोबलाइज्ड परम्परावादी दुनिया जिसे हम इस जद्दोजहद में सबसे आगे होना चाहिए क्या कर रही है?

प्राचीन भारत में राष्ट्र की अवधारणा

डॉ. रमेष्ा चन्द्र खन्डूडी एवं **श्रीमती रजनी मीणा***

प्राचीन भारतीय सन्दर्भ में राष्ट्र एक भौगोलिक सांस्कष्तिक अवधारणा रही है। ऋग्वेद में राष्ट्र ष्ताब्द का सर्वप्रथम उल्लेख एक निष्ठिचत भू-क्षेत्र के अर्थ में हुआ है। ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षि देष्ा, मध्यदेष्ा, आर्यावर्त एवं भारतवर्ष आदि नामों से आर्य क्षेत्र का क्रमिक भू-सांस्कष्तिक विस्तारीकरण हुआ। मान्यतानुसार पौरववंष्ाी चक्रवर्ती सम्राट भरत के नाम पर राष्ट्र का नाम भारतवर्ष पड़ा।

वेद, पुराण, महाभारत, रामायण, अष्टाध्यायी, जातक-साहित्य, रघुवंष्ा, मेघदूत एवं अन्य प्राचीन भारतीय साहित्य में भारत भूमि के जनपदों, राज्यों, नगरों, नदियों, पर्वतों, जातियों, निवासियों आदि का विस्तार से उल्लेख हुआ है। वायु पुराण का यह उल्लेख है कि हिमालय एवं समुद्र के मध्य अवस्थित भूमि भारतवर्ष है और उसमें निवास करने वाली प्रजा भारती है, भारतीय राष्ट्रीयता का प्राचीन श्रेष्ठ उदाहरण है। भारतवासी प्राचीन समय से ही भारतीय उपमहाद्वीप के भूगोल से भली-भाँति परिचित थे और सम्पूर्ण भारत भूमि के प्रति उनकी गहरी श्रद्धा थी। भारत-राष्ट्र के प्रति भावनात्मक एकता एवं भारतवासियों में सह-अस्तित्व के भाव को बनाये रखने में वैदिक संस्कष्ति, द्रविड़ीय संस्कष्तियों से आर्य संस्कष्ति का सम्पर्क एवं समन्वय, संस्कष्त भाषा एवं साहित्य की व्यापकता, ब्राह्मी लिपि व पालि भाषा का प्रसार, सनातन हिन्दू धर्म एवं उसके अनुष्ठान, हिन्दू जीवन पद्धति, दर्ष्ान एवं आध्यात्मिकता, चतुर्दिक तीर्थों की स्थापना, तीर्थ यात्रा एवं भक्ति परम्परा, हिन्दू-बौद्ध-जैन स्थापत्य एवं देव प्रतिमा कला की समरूपता आदि तत्त्वों ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

भारत राष्ट्र की भू-सांस्कष्तिक एकता एवं पहचान को प्राचीन काल में उसके अनेक यष्ास्वी चक्रवर्ती सम्राटों के अखिल भारतीय राज्यों के निर्माण, सुसंगठित प्रष्ाासनिक व्यवस्था एवं राष्ट्रीय एकता के लिए किये गये अनेक धार्मिक-सांस्कष्तिक कार्यों के कारण और भी अधिक बल प्राप्त हुआ।

भारत में साम्राज्य की अवधारणा बैदिक काल में अस्तित्व में आ चुकी थी। ऐतरेय ब्राह्मण

*व्याख्याता - इतिहास, राजकीय महाविद्यालय, राजगढ़ (अलवर), राजस्थान

में समुद्रपर्यन्त पृथ्वी के शासकों को एकराट् कहा गया है। कौटिल्य ने चक्रवर्ती सम्राट का शासन क्षेत्र हिमालय से लेकर आसमुद्र सम्पूर्ण भारत भूमि को माना है। चन्द्रगुप्त मौर्य प्रथम ऐतिहासिक चक्रवर्ती शासक था जिसने एक सुसंगठित केन्द्रीकृत शासन व्यवस्था द्वारा भारत के राष्ट्र राज्य की स्थापना की। अशोक महान ने पालि भाषा, ब्राह्मी लिपि, धम्म, प्रशासनिक सुधारों एवं प्रजाकल्याणकारी कार्यों के माध्यम से अपने साम्राज्य के नागरिकों में एकता एवं समानता की भावना को सुदृढ़ एवं विस्तृत किया। साम्राज्यीय गुप्त सम्राटों के काल में कला-साहित्य-विज्ञान-दर्शन-धर्म के क्षेत्र में हुए अभूतपूर्व विकास ने इस देश को न केवल सांस्कृतिक दृष्टि से समृद्ध किया अपितु उनमें भारत राष्ट्र के प्रति गौरव भाव में वृद्धि की।

गुप्तोत्तरकालीन भारत में उत्तर एवं दक्षिण भारत में अनेक प्रादेशिक राज्यों का उदय हुआ। लेकिन यहाँ उत्तर भारतीय शासकों की महत्त्वाकांक्षा समुद्रपर्यन्त राज्य विस्तार की होती थी वहीं दक्षिण भारतीय शासक हिमालय एवं गंगानदी तक अपने सैन्य अभियान कर अपने राज्य को अखिल भारतीय स्वरूप देने की अभिलाषा रखते थे। कदाचित् उन शासकों के अवचेतन में प्राचीन चक्रवर्ती सम्राटों के आदर्श विद्यमान थे।

निष्कर्षतः आधुनिक राजनीतिक सन्दर्भ में एक राष्ट्र राज्य के रूप में भारत का अस्तित्व भले ही बीसवीं शताब्दी की प्रघटना हो लेकिन एक भू-सांस्कृतिक राष्ट्र के रूप में इसकी पहचान भारतीय जनमानस में प्राचीन काल से ही निरन्तर विद्यमान रही है।

प्राचीन भारत के सन्दर्भ में राष्ट्र एक भू-सांस्कृतिक अवधारणा थी। पश्चिमी साम्राज्यवादी इतिहासकारों का यह कथन कि भारत राष्ट्र केवल अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत ही एक सूत्र में बँध सका, इससे पूर्व नहीं - ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्णतः सत्य नहीं है।

राष्ट्र की अवधारणा का प्राचीनतम उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है।[1] यहाँ देश या राज्य के लिए राष्ट्र शब्द प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद के दशम मण्डल में राजा से राष्ट्र की रक्षा करने को कहा गया है।[2] इससे स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद काल के अन्त में राष्ट्र के अंग के रूप में क्षेत्र की परिकल्पना की जाने लगी थी। उत्तरवैदिक काल में प्रादेशिक तत्त्व का जोर क्रमशः बढ़ता गया। अथर्ववेद के निर्वाचन गान में यह अभिलाषा व्यक्त की गयी है कि राष्ट्र या प्रदेश राजा के अधिकार में रहे और वरुण, बृहस्पति, इन्द्र, अग्नि देवता उसे दृढ़ता प्रदान करें।[3] अब राजा के प्रभुत्व वाले भू-भाग का निरन्तर विस्तार होने लगा था, फलतः वे राजाधिराज, सम्राट, एकराट् जैसी विशाल उपाधियाँ धारण करने लगे। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का शासक एकराट् होता है।[4] शतपथ ब्राह्मण में भी राजा को राष्ट्रभृत या राज्य का भर्ता (पालनकर्ता) कहा गया है।[5] राजसूय तथा अश्वमेध जैसे विशाल यज्ञों का अनुष्ठान कर सम्राट अपनी शक्ति प्रदर्शित करते थे।

हमारे देष्ठा के नाम भारत अथवा भारतवर्ष की व्याख्याएँ प्राचीन भारतीय साहित्य में उपलब्ध हैं। इनमें एक व्याख्या प्रकष्ट्या सांस्कष्तिक है। महाभारत के वनपर्व में कहा गया है 'भरत्येष प्रजा: सर्वस्ततो भरत उच्यते'[6] अर्थात् अग्नि भरत है क्योंकि वह प्रजाओं को भरता है। वासुदेवष्ठारण अग्रवाल के अनुसार 'देष्ठा में जहाँ-जहाँ अग्नि फैलती है, प्रजाएँ उसकी अनुगामी होकर उस प्रदेष्ठा में भर जाती हैं। आद्यभूसन्निवेष्ठा के समय देष्ठा विस्तार की यही राष्ट्रीय युक्ति थी.....इस प्रकार समग्र भूमि भरत-अग्नि का व्यापक क्षेत्र बन गयी और यही भरत क्षेत्र भारतवर्ष कहलाया।'[7]

दूसरी लोकप्रिय व्युत्पत्ति प्रकष्ट्या राजनीतिक है। पौरव वंष्ठा के प्रसिद्ध सम्राट दौ:षन्ति भरत ने देष्ठा के बिखरे हुए आर्य राज्यों को जीतकर चक्रवर्ती साम्राज्य स्थापित किया था। उसके इस साम्राज्य को उसके उत्तराधिकारियों ने चिरकाल तक स्थायी बनाये रखा इसलिए वे स्वयं और उनके ष्ठासन के अन्तर्गत रहने के कारण यह देष्ठा भारत नाम से विख्यात हुआ। भरत के ष्ठासन में इस देष्ठा को राजनीतिक एकता प्राप्त हुई। परवर्ती काल में भरत नाम को और अधिक व्यापक आधार देने का प्रयास किया गया। मत्स्य पुराण में मनु को भरत कहा गया है क्योंकि उन्होंने ही सबसे पहले धर्म और न्याय की मर्यादा बाँधकर प्रजाओं के भरण-पोषण की परम्परा प्रचलित की थी। इस व्यवस्था के अनुसार जिस प्रदेष्ठा में मनु की सन्तति ने निवास किया उसका नाम भारतवर्ष पड़ा।[8]

भारतवर्ष प्राचीन काल से ही एक विष्ठिष्ट भौगोलिक इकाई के रूप में प्राचीन भारतीय साहित्य में वर्णित होती रही है। राष्ट्र के आवष्ठयक तत्त्व के रूप में एक विष्ठिष्ट भौगोलिक पहचान एवं भू-भाग की समरूपता यहाँ विद्यमान रही है। वर्तमान में भौगोलिक एवं भूगर्भीय दष्टि से भारतवर्ष एष्ठिया महाद्वीप के अन्तर्गत हिमालय और हिन्दुकुष्ठा के दक्षिण, हेलमन्द के पूर्व और ब्रह्मपुत्र के पूर्वी छोर के पष्ठिचम में एवं दक्षिण में समुद्र से परिवष्ठ एक विष्ठाल उपमहाद्वीपीय भूखण्ड है। विष्णु पुराण में इसका स्पष्ट उल्लेख है-

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रैश्चैव दक्षिणम्।

वर्स तदभारतं नाम भारती यत्र सन्तति:॥ 2/3/1

प्राचीन काल से ही भारत के लोगों को एक भौगोलिक इकाई के रूप में अपनी मातष्भूमि का पूर्णरूपेण ज्ञान था और इसके प्रति उनके हृदय में श्रद्धा एवं प्रेम निहित था। अथर्ववेद के पष्थ्वी सूक्त में 'माताभूमि: पुत्रोहम् पष्ठिव्या:' कहकर राष्ट्रप्रेम के भारतीय दष्टिकोण को व्यक्त किया गया है। भारत में अतिप्राचीन काल से भारती प्रजा की भौगोलिक और सांस्कष्तिक एकता को निर्विवादरूपेण स्वीकष्त किया गया। प्राचीन काल से ही यह देष्ठा भारतवर्ष के नाम से विख्यात था और यहाँ के निवासी भारती सन्तति कहे जाते थे। भारतवासियों ने भारत को अपनी मातष्भूमि माना है और यहाँ के नदियों, पर्वतों और नगरों आदि की देवियों और देवताओं के रूप में उपासना की।

उनकी इस भावना के क्रमिक विकास का इतिहास प्राचीन साहित्य में सुरक्षित है। मनुस्मृति में आर्य क्षेत्र के क्रमिक विस्तार की स्मृति सुरक्षित मिलती है, जो क्रमशः ब्रह्मावर्त (सरस्वती व दृषद्वती का मध्यवर्ती क्षेत्र), ब्रह्मर्षि देश (कुरुक्षेत्र, मत्स्य, शूरसेन तथा पांचाल जनपद क्षेत्र), मध्यदेश (उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्य, पश्चिम में उत्तरी राजस्थान और पूर्व में प्रयाग तक) तक था। बौद्ध साहित्य में मध्यदेश का विस्तार मगध तक माना गया है। पाणिनि काल में हिमालय, विन्ध्यपर्वत और पश्चिमी व पूर्वी समुद्रों से घिरे विशाल भूखण्ड को आर्यावर्त संज्ञा दी गयी। बौद्ध निकायों में दक्षिणापथ, कलिंग, दन्तपुर, भरूकच्छ, अश्मक, सोवीर आदि क्षेत्रों का उल्लेख हुआ है।[9] पाणिनि के नन्दयुगीन भाष्यकार कात्यायन समस्त भारत से परिचित थे। उन्होंने अनी कृति में सुदूर दक्षिण के पाण्ड्यों और चोलों का उल्लेख किया है।[10] चतुर्थ शताब्दी ई.पू. के अन्त में अखिल भारतीय मौर्य साम्राज्य की स्थापना, अशोक के शिलालेखों की समस्त भारत में उपलब्धता तथा इनमें सुदूर दक्षिणी राज्यों का नामोल्लेख स्पष्ट करता है कि मौर्य काल तक भारतीयों को समस्त देश के भूगोल का ज्ञान हो गया था। फलतः परवर्ती युगों में भारतवर्ष की यह परिभाषा सर्वमान्य हो गयी–

"आहिमवत आकुमायां भारतवर्षम्" अर्थात् "हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक विस्तृत भौगोलिक इकाई को भारतवर्ष कहते हैं।"[11]

मौर्योत्तर एवं कुषाण कालों में भारतीयों की अखिल भारतीय भौगोलिक चेतना सुस्पष्ट और गहनतर हो जाती है। महाभाष्य में केरल अथवा मालाबार तक का उल्लेख है। चौथी शताब्दी ई. तक रचित रामायण एवं महाभारत महाकाव्यों में उत्तर भारत के भूगोल के साथ-साथ दक्षिण भारत के भूगोल का भी विस्तृत परिचय मिलता है। रामायण के किष्किन्धाकाण्ड में सुग्रीव का भौगोलिक ज्ञान तथा महाभारत के सभा पर्व में सहदेव की विजय यात्रा में पाण्ड्यों, द्रविड़ों, आन्ध्रों और केरलों के पराजित किये जाने का उल्लेख है। भीष्मपर्व में उत्तर की 157 जातियों का एवं दक्षिण की 50 जातियों का उल्लेख हुआ है।[12] वायु पुराण में भारत के भौगोलिक विस्तार एवं एक भौगोलिक इकाई के रूप में उसके अस्तित्व को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है। वायु पुराण के अनुसार समुद्र के उत्तर एवं हिमालय के दक्षिण में स्थित भू-भाग का नाम भारत है और उसमें निवास करने वाली प्रजा भारती है। इसमें भारत के पूर्व में किरातों (उत्तर-पूर्व की जनजातियों) एवं पश्चिम में यवनों (बैक्ट्रिया के यवनों) की स्थिति बतायी गयी है। कन्याकुमारी से गंगा के स्रोत तक भारत भूमि का विस्तार बताया गया है।[13] स्पष्ट है कि प्रथम शताब्दी ई.पू. तक भारत के विस्तार की यह कल्पना अस्तित्व में आ चुकी थी।

मत्स्य, वायु, ब्रह्माण्ड, कूर्म, विष्णु और वराह आदि पुराणों के भुवनकोष नामक अध्यायों में और महाभारत के भीष्मपर्व में भारत के पर्वतों और नदियों का विस्तार से उल्लेख हुआ है। पुराणों के विवरणों से ज्ञात होता है कि भारतवासी मेरु पर्वत (पामीर) और हेमकूट (कैलास हिमालय)

को अपने देष्ठा की सीमा मानते थे। महाभारत में देष्ठा की सीमा के अन्दर अवस्थित सात पर्वतों- महेन्द्र (पूर्वी घाट की पर्वतश्रंष्ठला), मलय (कावेरी के दक्षिण की चोटियाँ), सह्याद्रि (पष्ठिचमी घाटी की पर्वतमाला), ष्ठुक्तिमान (खानदेष्ठा की पहाड़ियाँ), ऋक्ष (सतपुड़ा-महादेव पर्वतश्रंष्ठला), विन्ध्य और परियात्र (विन्ध्याचल के पष्ठिचमी भाग से लेकर राजपूताने की अरावली पहाड़ियाँ) के उल्लेख से स्पष्ट है कि भारत के भूगोल में हिमालय से लेकर सुदूर दक्षिण तक के प्रदेष्ठा सम्मिलित किये जाते थे। पर्वतों के समान ही भारत की नदियों की सूची भी पुराण और महाभारत आदि ग्रन्थों में मिलती है। महाभारत की नदी सूची में दो सौ नाम हैं जिनमें गान्धार की सुवास्तु से लेकर असम की लौहित्य, उड़ीसा की ऋषिकुल्या और वैतरणी तथा दक्षिण की तुंगभद्रा तक सम्मिलित है। ष्ठिवपुराण में सप्तगंगा (सात नदियों) गंगा, सिन्धु, गोदावरी, कावेरी, ताम्रपर्णि, सरयू, रेवा को गिनाया गया है।[14] धर्मनिष्ठ भारतीय आज भी स्नान करते समय देष्ठा की पवित्र नदियों का आह्वान करता है-

गंगे च यमुने चैव गोदावरी सरस्वती।

नम्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन्सन्निधिं कुरू॥

देष्ठा की मोक्षदायिका नगरियों की सूची में भी उत्तर और दक्षिण दोनों भू-भागों के नगर सम्मिलित हैं जिनका नामोच्चार श्रद्धापूर्वक भारत के लोग करते हैं-

अयोध्या-मथुरा-माया-काष्ठी-कांची-अवन्तिका।

पुरी द्वारावती ज्ञेया सप्तैताः मोक्षदायिका।।

प्राचीन काल में भारत की भौगोलिक एकता की भावना की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति कालिदास की रचनाओं में हुई है। रघुवंष्ठा के चतुर्थ सर्ग में रघु अपना दिग्विजय अभियान वंग से प्रारम्भ कर उत्कल, कलिंग, दुर्दर होते हुए सुदूर दक्षिण में केरल पहुँचते हैं और वहाँ से अपरान्त और त्रिकूट पर्वत होते हुए पारसीकों, वक्षुप्रदेष्ठा में हूणों और तदन्तर काम्बोज, उत्सवंसकेत और किरात इत्यादि जातियों को परास्त करते हुए असम जा पहुँचते हैं। इस प्रकार कालिदास ने रघु के दिग्विजय अभियान के माध्यम से समस्त भारतवर्ष की परिक्रमा कर डाली। कालिदास ने इन्दुमती के स्वयंवर में मगध व अंग के साथ अनूप, कलिंग और पाण्ड्य आदि जनपदों के नरेष्ठों को निमंत्रित करके अपने अखिल भारतीय दष्ठिकोण का परिचय दिया है। इसी प्रकार राम के लंका से प्रत्यागमन और मेघदूत में मेघ की रामगिरि से कैलास तक की यात्रा के विवरण में वह देष्ठा के विभिन्न भू-भागों से प्रगाढ़ परिचय और स्नेह का परिचय देते हैं।[15]

समस्त भारतीय जनमानस में भारत को एक राष्ट्र के रूप में अभिव्यक्त करने एवं भावनात्मक एकता को बनाये रखने में भारत-भूमि की भौगोलिक एकता के साथ-साथ यहाँ के धर्म,

भाषा, संस्कृति, दर्शन, साहित्य, आचार-विचार, रीति-रिवाज, कला, परम्परा आदि की समरूपता का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। यद्यपि भारतीय संस्कृति का मूल आधार वैदिक संस्कृति रही है लेकिन इतिहास के दीर्घकालीन समय प्रवाह में वैदिक संस्कृति का आर्येत्तर एवं दक्षिण भारत की द्रविड़ीय संस्कृतियों के साथ सम्पर्क एवं समन्वय ने भारतीय संस्कृति को व्यापक एवं अधिक सर्वस्वीकृत आधार प्रदान किया।

हमारी परम्परा से प्राप्त सनातन धर्म, आधार ग्रन्थ, आप्त पुरुष तथा सांस्कृतिक अनुष्ठान थोड़ी स्थानीय भिन्नता के साथ हिमालय से कन्याकुमारी तथा सौराष्ट्र से प्राग्ज्योतिषपुर तक मान्य है। रामायण एवं तमिल परम्परा से भी उत्तर एवं दक्षिण भारत की एकता प्रमाणित होती है। तदनुसार तमिल देष्ठा के संस्कृतीकरण का कार्य ऋषि अगत्स्य द्वारा किया गया। चेर देष्ठा में आर्य संस्कृति का प्रसार परष्ठुराम के समय तक हो चुका था। केरल में प्रचलित जनश्रुति के अनुसार केरल एवं कोंकण की भूमि को समुद्र से निकालने का काम परष्ठुराम ने किया था। अगत्स्य के समय से दक्षिण और उत्तर भारत दोनों ही भागों के लोग एक ही धर्म एवं संस्कृति को मानते आये हैं।

प्राचीन भारतवर्ष में संस्कृत सम्पूर्ण देष्ठा की साहित्य की प्रमुख भाषा के रूप में मान्य थी। यद्यपि संस्कृत भाषा का उदय एवं विस्तार उत्तर भारतीय वैदिक ऋषि-मुनियों एवं विद्वानों द्वारा किया गया लेकिन यह ष्ठीघ्र ही दक्षिण भारत के विद्वान् वर्ग की भी भाषा बन गयी। वैदिक धर्म के अनेक ग्रन्थों में से अनेक की रचना दक्षिण भारत में हुई। श्रौत, गृह्य एवं धर्मसूत्र के रचयिता आपस्तम्ब दक्षिणवासी थे। हाल, विज्जिका, भारवि, कुलष्ठोखर, वासुदेव, त्रिविक्रम भट्ट, सद्गुरुष्ठिष्य, गुणाढ्य, सायणाचार्य, विष्णुचित्त स्वामी, ष्ठांकराचार्य, मल्लिनाथ, पण्डित जगन्नाथ आदि दक्षिण के संस्कृत विद्वानों ने अपनी साहित्यिक-धार्मिक रचनाओं से दक्षिण भारत में इस भाषा को समृद्ध बनाया। वेद, उपनिषद्, धर्मष्ठास्त्र, स्मृति ग्रन्थ, पुराण, रामायण, महाभारत आदि धर्म ग्रन्थों, पाणिनि, पतंजलि, कालिदास, अष्ठवघोष एवं अन्य संस्कृत कवियों-लेखकों की रचनाओं, पंचतंत्र कथाओं, नीति ग्रन्थों आदि का पठन-पाठन सम्पूर्ण भारतवर्ष में होता था। तमिल परम्परा के अनुसार संस्कृत और द्रविड़ भाषाएँ एक ही उद्गम से निसृत हैं। कालान्तर में दक्षिण की तमिल, कन्नड़, तेलुगु, मलयालम जैसी भाषाएँ संस्कृत के स्पर्ष्ठा से ही जागृत और विकसित होकर साहित्य भाषा के धरातल पर पहुँच सकी हैं।[16]

प्राचीन भारत में संस्कृत के अलावा पालि, प्राकृत, अपभ्रंष्ठा भाषाओं के साथ-साथ ब्राह्मी लिपि ने भी भारत की सांस्कृतिक एकता के निर्माण में भूमिका निभायी। पालि भाषा एवं ब्राह्मी लिपि का ज्ञान अष्ठोक के समय उत्तर भारत सहित दक्षिण भारत को भी हो चुका था। इसलिए अष्ठोक ने दक्षिण भारत में भी अपने अभिलेख पालि भाषा व ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण करवाये। तमिल परम्परा के अनुसार द्रविड़ भाषाओं की सभी लिपियाँ ब्राह्मी से निकली हैं। प्राकृत काव्य साहित्य

की रचना में दक्षिणात्य कवियों का भी योगदान रहा है।

प्राचीन भारत में राष्ट्र अवधारणा के निर्माण में धर्म एवं कला का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वैदिक धर्म एवं उसके परवर्ती स्वरूप ब्राह्मण धर्म एवं उसके सम्प्रदायों ष्ठौव, वैष्णव, ष्ठाक्त, सौर आदि से सम्बन्धित देवी-देवता, धार्मिक-दार्ष्ठानिक ग्रन्थ, अनुष्ठान-कर्मकाण्ड आदि पूरे भारत में लगभग एक समान रहे हैं। उनसे सम्बन्धित देवप्रतिमा, मन्दिर, मठ, आश्रम, तीर्थस्थल भी पूरे राष्ट्र में अवस्थित हैं। प्राचीन काल से धार्मिक स्थलों की तीर्थयात्रा की परम्परा रही है। ष्ठास्त्रार्थ एवं नवीन विचारों के प्रचार हेतु सभी भागों के विद्वान् सम्पूर्ण भारत-भूमि में भ्रमण करते थे। नवीं ष्ठाताब्दी में केरल निवासी महान् दार्ष्ठानिक ष्ठांकराचार्य ने राष्ट्र की भावनात्मक एकता को और सुदष्ठ करने एवं हिन्दू धर्म संस्कष्ठति को व्यापक आधार प्रदान करने के लिए भारत की सुदूर चार दिष्ठाओं में चार प्रसिद्ध हिन्दू तीर्थों एवं मठों की स्थापना की। अब प्रत्येक नैष्ठिक हिन्दू के जीवन का उद्देष्ठय इन तीर्थों की यात्रा करना था। देष्ठा भर में फैले विभिन्न तीर्थ स्थलों की यात्राओं ने भारतीयों के मन में एक राष्ट्र के निवासी होने की भावना का विकास किया तथा इससे विभिन्न क्षेत्रों के लोगों में सामाजिक सांस्कष्ठतिक मेलजोल में वष्ठद्धि हुई। हिन्दू देव समूह, बुद्ध-बोधिसत्वों एवं जैन तीर्थङ्करों की प्रतिमाएँ देव प्रतिमा ष्ठास्त्र के सिद्धान्त एवं लक्षणों के अनुरूप सम्पूर्ण देष्ठा में प्रायः एक समान निर्मित की गयी। इसी प्रकार विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित स्थापत्यीय ष्ठौलियों के अनुसार देव मन्दिरों, स्तूप, चैत्य, गुहाओं आदि का निर्माण किया गया जिसमें प्रायः समरूपता है।

प्राचीन काल से ही भारतवासी अपने धर्म, दर्ष्ठान एवं संस्कष्ठति की श्रेष्ठता के कारण अपनी मातष्ठभूमि पर निरन्तर गर्व करते थे। उत्तर भारत में रचित विष्णु पुराण के अनुसार देवता भी यहाँ देह धारण कर जन्म लेने के लिए लालायित रहते थे-

गायन्ति देवाः किलगीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमि भागे।

स्वर्गापवर्गास्पद मार्ग भूते भवन्ति भूयः पुरूषाः सुरत्वात्।। (विष्णु पुराण 2/3/24)

इसी प्रकार दक्षिण भारत में विरचित श्रीमद्भागवत पुराण में भी उक्त भाव को और भी अधिक विलक्षण रूप में प्रस्तुत किया गया है-

अहो अमीषां किमकारिष्ठोभनं प्रसन्न एषां स्विदुतस्वयं हरिः।

यैर्जन्म लब्धं नष्ठु भारताजिरे मुकुन्द सेवौपयिकं स्पष्ठा हि नः।। (श्रीमद्भागवत 5/19/21)

वाल्मीकि रामायण में भगवान् राम ने भी भारत को स्वर्ग से श्रेष्ठतर माना था-

नेयं स्वर्णपुरी लंका रोचते मम लक्षणः,

जननी-जन्मभूमिष्ठच स्वर्गादपि गरीयसी। (वाल्मीकि रामायण)

भारत राष्ट्र की उपर्युक्त वर्णित भौगोलिक-सांस्कृतिक एकता को प्राचीन काल में राजनीति ने भी अनेक अवसरों पर सुदृढ़ता प्रदान की। ऐतिहासिक काल में नन्दशासक महापद्मानन्द यदि पूर्णतः नहीं तो आंशिक रूप से अखिल भारतीय साम्राज्य स्थापित करने में सफल रहा। पुराणों में उसे एकछत्र, एकराट् तथा अनुल्लंघित रूप से पृथ्वी को भोगने वाला कहा गया है। जैन लेखकों ने नन्द के मंत्री द्वारा समुद्रपर्यन्त पृथिवी जीते जाने की चर्चा की है।[17] भारत में साम्राज्य की अवधारणा चक्रवर्ती आदर्श पर आधारित थी। उत्तर वैदिक साहित्य में अनेक प्राचीन चक्रवर्ती शासकों की सूची मिलती है। पालि साहित्य में सफल जम्बुद्वीप (भारतीय उपमहाद्वीप) को एक चक्रवर्ती राजा का शासन क्षेत्र माना गया है। अंगुत्तर निकाय के अनुसार बुद्ध अपने एक पूर्वजन्म में सम्पूर्ण पृथ्वी पर शासन करने वाले चक्रवर्ती राजा थे। धर्मानुसार शासन करने वाले चक्रवर्ती राजा का आदर्श बुद्ध एवं उनके अनुयायियों के सम्मुख सदैव रहता था।[18]

अर्थशास्त्र परम्परा के विकास के साथ भारत में राजत्व की नयी अवधारणा विकसित हुई और चक्रवर्ती आदर्श को ठोस आधार मिला। कौटिल्य ने चक्रवर्ती का शासन क्षेत्र हिमालय से समुद्र तक विस्तृत भूमि को बताया है। चन्द्रगुप्त मौर्य और उसके उत्तराधिकारियों का साम्राज्य राजत्व की इस नवीन अवधारणा एवं चक्रवर्ती क्षेत्र के आदर्श का व्यावहारिक रूप था। चन्द्रगुप्त मौर्य को मुद्राराक्षस में हिमालय से समुद्र तक पृथ्वी का स्वामी बताया गया है। सुदूर दक्षिण प्रायद्वीप के चोल, चेर, पाण्ड्य और सतियपुत को छोड़कर लगभग सम्पूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप उसके साम्राज्य के अन्तर्गत था। अर्थशास्त्र के विवरणों से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने एक सुदृढ़ केन्द्रीकृत जनकल्याणकारी शासन व्यवस्था के द्वारा इस विशाल साम्राज्य को प्रशासनिक एकता में सूत्रबद्ध किया।

सम्राट अशोक के कुछ महत्त्वपूर्ण कार्यों से भारत की मूलभूत एकता की भावना को बल मिला। अशोक ने ब्राह्मी लिपि को अखिल भारतीय स्तर पर प्रसारित किया और उसे लोकप्रिय बनाया। एक लिपि के प्रचार द्वारा न केवल साम्राज्यीय प्रशासन को लिखित आदेशों पर आधृत कर दृढ़ बनाया गया अपितु देश को सांस्कृतिक एवं प्रशासनिक एकता की एक मजबूत जंजीर से बाँधा गया। भाषात्मक विविधता वाले प्राचीन भारतीय समाज में अशोक ने अपने अभिलेखों में सुदूर पश्चिमोत्तर प्रदेशों को छोड़कर अन्य सर्वत्र पालि भाषा का प्रयोग किया। उसने इस राजभाषा का रूप दिया। पालि भाषा प्रशासन और साहित्य के क्षेत्र में एकता की कड़ी के रूप में सम्पर्क भाषा बनी।[19] साम्राज्य में एकता की भावना राजपुरुषतंत्र की समरूपता के कारण भी उत्पन्न हुई। अशोक के अभिलेखों से स्पष्ट है कि उसके आदेश सब प्रदेशों के लिए समान होते थे और एक ही आदेश की प्रतिलिपियाँ सब जगह उत्कीर्ण करायी गयीं। अतः सभी प्रजाजनों के मन में यह भावना उत्पन्न होनी स्वाभाविक थी कि वे एक राज्य के समानस्तरीय नागरिक हैं। स्वयं सम्राट द्वारा जनपदवासियों से सम्पर्क रखने, राजकुमारों की गवर्नरों के रूप में नियुक्ति, धर्म महामात्र एवं राजूकों के

समय-समय पर दौरे आदि इन सबसे प्रजाजन एवं प्रष्ठासक के मध्य निरन्तर सम्पर्क बना रहा। सर्वधर्म समभाव एवं नैतिक आदर्शों पर आधारित अष्ठोक की धम्मनीति ने भी विभिन्न धर्म-सम्प्रदाय युक्त भारत राष्ट्र को भावनात्मक एकता प्रदान की। अष्ठोक के उक्त उपायों से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से भारत की राजनीतिक-सांस्कष्तिक एकता की प्रवष्तियों को बढ़ावा मिला।

सम्राट पुष्यमित्र ष्ठुंग द्वारा अष्ठवमेध यज्ञ का सम्पादन, कनिष्क की देवपुत्र षाहिषाहानुषाही की साम्राज्यीय उपाधि, गौतमीपुत्र सातकर्णि के लिए 'त्रिसमुद्रतोयपीतवाहनस्य' का विरुद स्पष्ट करता है कि ये ष्ठासक भी एक विष्ठाल साम्राज्य के स्वामी थे। साम्राज्यीय गुप्त सम्राटों- समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, कुमारगुप्त प्रथम, स्कन्दगुप्त के अधिसत्तात्मक साम्राज्य का स्वरूप लगभग अखिल भारतीय था जिसमें उनके प्रत्यक्ष ष्ठासित, अधीनस्थ सामन्त क्षेत्र एवं प्रभाव क्षेत्र सम्मिलित थे। उनकी महाराजाधिराज, परमभट्टारक, परमेष्ठवर, पराक्रमांक, विक्रमादित्य जैसी उपाधियाँ इसके द्योतक हैं। समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रष्ठास्ति, महरौली प्रष्ठास्ति लेख, स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ अभिलेख में इन ष्ठासकों की अखिल भारतीय विजयों एवं समुद्रपर्यन्त पष्थिवी के विजित करने का उल्लेख है। मन्दसोर अभिलेख में वत्सभट्टि ने कुमारगुप्त प्रथम को समुद्रपरिवष्त पष्थिवी का स्वामी बताया है।[20] कालिदास ने सम्भवतः गुप्त सम्राटों की छवि को ध्यान में रखकर अपने ग्रन्थ 'रघुवंष्ठा' में रघुवंष्ठीय नरेष्ठों को 'आसमुद्रक्षितीष्ठानाम' बताते हुए उनके चक्रवर्तित्व की ओर संकेत किया है। पराक्रमी गुप्त सम्राटों के लगभग तीन ष्ठताब्दियों के सुप्रष्ठासित सुदीर्घ ष्ठासन काल में कला, साहित्य, विज्ञान, दर्ष्ठान के क्षेत्र में हुई अभूतपूर्व प्रगति एवं पौराणिक हिन्दू धर्म के अभ्युत्थान एवं विकास ने भारत को सांस्कष्तिक-धार्मिक दष्ष्टि से और भी अधिक समष्द्ध किया। इस सांस्कष्तिक चेतना का विस्तार गुप्तकाल में जन सामन्य तक व्याप्त हो गया।

गुप्तोत्तर काल से लेकर प्राक् तुर्क युग तक उत्तर एवं दक्षिण भारत में अनेक प्रादेष्ठिक राज्यों का उदय हुआ लेकिन इनके ष्ठासकों द्वारा धारण की जाने वाली उपाधियाँ साम्राज्यीय एवं अखिल भारतीय स्वरूप लिये होती थीं। बाणभट्ट ने हर्षवर्धन को चतुस्समुद्राधिपति, सकल राज चूड़ामणि, महाराजाधिराज, परमेष्ठवर आदि विरुद दिये हैं।[21] प्रादेष्ठिक अधिसत्ताधिपति होते हुए भी उत्तर भारतीय ष्ठासकों की महत्त्वाकांक्षा दक्षिण में तीनों समुद्रों तक राज्य विस्तार की होती थी।[22] अखिल भारतीय साम्राज्य का अधिपति होने की महत्त्वाकांक्षा के पीछे कदाचित् इन ष्ठासकों के अवचेतन मस्तिष्क में सम्पूर्ण भारत भूमि या राष्ट्र का स्वामी होने की इच्छा का प्रभाव था जिसका उल्लेख उनके अभिलेखों एवं प्रष्ठांसा में रचित ग्रन्थों में किया जाता था।[23] नवीं ष्ठताब्दी के प्रतिहारकालीन राजकवि राजष्ठेखर ने कन्याकुमारी से लेकर मानसरोवर (हिमालय) तक भारत का चक्रवर्ती क्षेत्र माना है, हिमालय में ष्ठिव एवं दक्षिणी छोर पर कन्याकुमारी (तपलीन कुमार पार्वती) का सूत्र देष्ठा की इस भीतरी एकता का प्रतीक है।[24]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में राष्ट्र की अवधारणा भौगोलिक एवं सांस्कृतिक होने के साथ-साथ राजनीतिक भी थी। शासक वर्ग से लेकर सामान्य जन तक भारत भूमि से परिचित थे। कुलीन एवं विद्वत् वर्ग में प्रचलित भाषा, साहित्य, लिपि एवं विचारों की समरूपता ने सामाजिक एवं सांस्कृतिक गतिशीलता को निरन्तर बनाये रखा। प्राचीन काल में हिन्दू, बौद्ध एवं जैन धर्म व संस्कृति के अनुयायी भारतीयों का सामाजिक-आर्थिक-धार्मिक-सांस्कृतिक जीवन यद्यपि एक समान तो नहीं था लेकिन अधिकांशतया समरूप था। पूर्व मध्य काल में बौद्ध व जैन धर्म एवं उसके सम्प्रदाय विशाल एवं प्रभावी हिन्दू धर्म व संस्कृति से प्रभावित होकर एक बड़ी सीमा तक हिन्दूमय होने लगे। इन सभी कारकों ने भारतवासियों को भावनात्मक एवं मनोवैज्ञानिक रूप से एक दूसरे को जोड़ा।

यह सत्य है कि भारत बीसवीं शताब्दी में आधुनिक सन्दर्भ में एक राष्ट्र राज्य के रूप में अस्तित्व में आया लेकिन भारतवासियों के मन में भारत राष्ट्र की भू-सांस्कृतिक छवि प्राचीन काल काल से ही विद्यमान रही थी। विदेशी सत्ताओं से संघर्ष एवं राष्ट्र की स्वतंत्रता-प्राप्ति में इस भावना का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

सन्दर्भः

1. ऋग्वेद 4/42/1
2. ऋग्वेद 10/173/1, 10/173/2
3. अथर्ववेद 6/88/2
4. ऐतरेय ब्राह्मण 8/15
5. शतपथ ब्राह्मण 9/4/1.1
6. वनपर्व 211.1
7. गोयल, श्रीराम; प्राचीन भारत, पृष्ठ 13
8. गोयल, श्रीराम; प्राचीन भारत, पृष्ठ 14
9. गोयल, श्रीराम; प्राचीन भारत, पृष्ठ 30
10. तत्रैव, पृष्ठ 31
11. तत्रैव, पृष्ठ 31
12. तत्रैव, पृष्ठ 31
13. तत्रैव, पृष्ठ 32
14. तत्रैव, पृष्ठ 32-33
15. तत्रैव, पृष्ठ 33
16. दिनकर, रामधारी सिंह, भारतीय संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 38
17. रायचौधरी, हेमचन्द्र - पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शियण्ट इण्डिया, पृष्ठ 234, टिप्पणी 2 में उद्धृत

18. गोयल, श्रीराम; प्राचीन भारत, पृष्ट 338
19. तत्रैव, पृष्ट 568
20. सलेक्टेड इन्सक्रिप्शान्स, पृष्ट 304
21. हर्षचरित, पृष्ट 52
22. नारायण पाल का बादाल स्तम्भ लेख, एपि. इण्डिका, जिल्द 2, पृष्ट 160, 165 श्लोक 5
23. राष्ट्रकूट गोविन्द तृतीय की दिग्विजयें - (1) एपि. इण्डिका, जिल्द 23, पृष्ट 293-95 (2) चोल सम्राट राजेन्द्र प्रथम की सेना का उत्तर भारतीय अभियान, तिरुवालगाड एवं तिय भल्ले अभिलेख, एपि. इण्डिका, जिल्द 9, पृष्ट 223 से आगे।
24. गोयल, श्रीराम; प्राचीन भारत, पृष्ट 32

आधुनिक काल में संग्रहालय की भूमिका

डॉ. विपिन कुमार*

किसी भी देष्ठा के लिए संग्रहालय एक महत्त्वपूर्ण संस्था माना जाता है। संग्रहालय में उस देष्ठा की सभ्यता एवं संस्कष्ठि के अवष्ठेष रखे जाते हैं जिनके परीक्षण करने से हमें उस अमुक देष्ठा के प्राचीन गौरव को समझने का अवसर प्राप्त होता है। संग्रहालय को अंग्रेजी में Museum कहा जाता है और यह ष्ठाब्द लैटिन के Mojian से निकला है जिसका अर्थ होता है कलाओं का स्थान अर्थात् वह भवन जहाँ मनुष्य के ष्ठिाल्प एवं प्रकष्ठि की हर प्रकार की वस्तुएँ प्रदर्ष्ठित की जा सकती हैं तथा भण्डार में संग्रह कर रखी जा सकती हैं। आज संग्रहालय का सम्बन्ध पुरातत्त्व के संग्रहालय से हो गया है जिसमें प्राचीन वस्तुओं या कला के विषय प्रदर्ष्ठित किये जाते हैं। पर आधुनिक काल में विभिन्न प्रकार के संग्रहालयों का अस्तित्व हमें दखने को मिलता है जहाँ मानव कार्य-कलाप के विभिन्न क्षेत्रों की सभी वस्तुएँ रखी जाती हैं और टेक्नॉलॉजी, विज्ञान, इंजीनियरिंग, चिकित्सा, खनिज खानों के भी संग्रहालय बनाये जाने लगे हैं। अंग्रेजों के ष्ठासन-काल में भारतवर्ष में सर्वप्रथम एक संग्रहालय की नींव सन् 1814 ई. में कलकत्ता के एष्ठियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल की इमारत में पड़ी थी।[1]

हमारे विद्वानों का भी ध्यान उसके बाद से पड़ने लगा और वे देष्ठा के कोने-कोने में बिखरी ऐतिहासिक वस्तुओं के संग्रह में लग गये। भारतीय पुरातात्त्विक सर्वेक्षण के महानिदेष्ठाक सर अलैक्जेंडर कनिंघम ने देष्ठा के भिन्न-भिन्न भागों से प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कष्ठि से सम्बन्धित सामग्रियों के संग्रह की ओर लोगों को प्रेरित किया तथा इस क्रम में उन्हें अपार सांस्कष्ठिक सम्पत्ति का पता चला था। उन्होंने इस क्रम में देष्ठा के भिन्न-भिन्न स्थानों के ऊँचे टीलों की खुदाई करवायी और उनसे प्राप्त सामग्रियों का संग्रह भी किया। इसी क्रम में मध्य प्रदेष्ठा के भरहुत में खुदाई करवायी गयी थी। कनिंघम स्वयं तथा उनके अधीनस्थ अधिकारियों ने भी इस क्रम को जारी रखा।[2] अतः भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं के संग्रह में विविधता देखने को मिली।

लॉर्ड लिटन के समय में सन् 1878 ई. में संग्रहालय से सम्बन्धित कानून के पास हो जाने पर स्थिति में बड़ा ही परिवर्तन आया और वैज्ञानिक तरीकों से स्मारकों और स्थलों की खुदाई

*डी.लिट्., रिसर्च स्कॉलर, मगध विष्ठवविद्यालय, बोधगया (बिहार)

करवाये जाने का प्रचलन प्रारम्भ हो गया तथा सन् 1902 ई. तक के बीच में पुरातत्त्व सम्बन्धी नीति ने भिन्न-भिन्न रूप लिया और इन पर सरकार का नियंत्रण अनिवार्य हो गया।[3]

संग्रहालय मूलत: एक सेवा संस्था है तथा इसका मुख्य कार्य है दर्शकों का मार्गदर्शन करना, उनकी कुण्ठित शक्तियों को जगाना तथा स्वस्थ मानसिक गतिविधियों के लिए अवसर प्रदान करना। अगर हमारे देश के अन्दर विभिन्न प्रकार के संग्रहालय नहीं होते तो हम अपने अतीत के गौरव को नहीं समझ पाते। अगर संग्रहालय नहीं होता तो हमारे देश के सम्पूर्ण छोटे-छोटे सिक्के एवं पत्थर की मूर्तियाँ भारत को भौगोलिक सीमाओं के बाहर के देशों के संग्रहालयों की शोभा बढ़ाते।

आधुनिक युग में संग्रहालय किसी भी राष्ट्र की अमूल्य निधि मानी जाती है और इसके संरक्षण, रख-रखाव एवं इनके प्रशासनिक व्यवस्था को सुदृढ़ रखने के लिए राजकीय कोष का एक बहुत बड़ा भाग व्यय किया जाता है। संग्रहालय का सबसे प्रमुख कार्य यह है कि वहाँ किन-किन वस्तुओं का संग्रह किया जाय जिन्हें देखकर हमारी वर्तमान पीढ़ी उस अतीत का ज्ञान प्राप्त कर सके जिन्हें उनके पूर्वजों ने उस जमाने में सजा कर रखा था।[4] इसके अतिरिक्त आने वाली पीढ़ियों के लिए भी संग्रहालय एक अनुकरणीय वस्तु हो जाती है और वर्तमान काल के कुछ भी अवशेष हमारे आने वाली पीढ़ियों के लिए वही भूमिका दे सकता है जिसे हम आज संग्रहालय में देखते हैं। यद्यपि संग्रहालय में अतीत के निर्जीव पदार्थों को रखा जाता है पर उन संग्रहालयों के दक्ष, कुशाल एवं अनुभवी अधिकारियों के द्वारा संग्रहालय एक सजीव संस्था के रूप में कार्यरत होती है।

संग्रहालय का मुख्य कार्य किसी भी वस्तु के बचाव, सुरक्षा एवं लोगों के लिए प्रदर्शनी होती है। भगवान् बुद्ध की विभिन्न मुद्राओं को देखकर हम उन मुद्राओं का सही-सही चित्रण करसकते हैं। एक छोटे सिक्के को देखकर हम उन सिक्कों के चलाने वाले राजा एवं निगमों के विषय में जान पाते हैं तथा इनसे तत्युगीन सांस्कृतिक एवं आर्थिक अवस्था का अनुशीलन कर पाते हैं। अगर संग्रहालय नहीं होता तो हम उन सिक्कों का अध्ययन नहीं कर पाते और ये सिक्के विभिन्न समुदाय के लोगों द्वारा आभूषण के रूप में प्रयोग कर लिये जाते।

कुछ विद्वानों ने संग्रहालयों को विद्यालयों से तुलना की है पर इतिहासकारों का ऐसा दावा है कि संग्रहालय एक स्कूल से ज्यादे उपयोगी इस अर्थ में है कि स्कूलों में एक खास अवस्था के लोग शिक्षा ग्रहण करते हैं पर संग्रहालय हर वर्ग एवं हर अवस्था के लोगों के लिए एक खुला हुआ विश्वविद्यालय है जहाँ छोटे बच्चे से लेकर बड़े लोग जाते हैं। स्कूलों में वर्ग चलाने के लिए घण्टी बजायी जाती है, परीक्षा ली जाती है लेकिन संग्रहालय में इस तरह की स्थिति नहीं होती। हर वग्र के लोग अपने अनुभवों के आधार पर अपना-अपना तर्क प्रस्तुत करते हैं जिनसे दूसरों को लाभ होता है। संग्रहालय एक स्थायी संस्था है और यहाँ रखी हुई वस्तुओं को दर्शक बराबर देखते रहते हैं।[5]

आधुनिक काल में संग्रहालय एक सजीव संस्था है और इसके सामने एक लक्ष्य है जिसके आधार पर हम देष्ठा की सामाजिक, ऐतिहासिक, सांस्कष्टिक, आर्थिक एवं कलात्मक रहस्यों को जानने की चेष्टा करते हैं। प्राचीन काल की मान्यताएँ आधुनिक युग में जीवन के प्रत्येक अंग में नया रूप ले रही है और इस कारण संग्रहालय का अपना महत्त्व अधिक बढ़ जाता है। संग्रह की नवीन विधियाँ, उनके प्रदर्ष्ठान करने के तरीके, संग्रह की गयी वस्तुओं की देखभाल, दर्ष्ठाकों की रुचि-अरुचि, प्रदर्ष्ठानी के उद्देष्ठय हमारे सामने कुछ ऐसे प्रष्ठन उपस्थित कर देते हैं जिनका निराकरण हम केवल अनुमान से नहीं लगा सकते।[6]

आधुनिक काल में संग्रहालय का ष्ठौक्षणिक उद्देष्ठय केवल दो बातों पर निर्भर करता है- वह है, ठीक-ठीक वस्तुओं का संग्रह करना तथा रुचिकर एवं आकर्षक ढंग से लोगों के सामने उसका प्रदर्ष्ठान करना। आज हम इस बात पर अधिक जोर देते हैं कि प्रदर्ष्ठित संग्रह दर्ष्ठाकों के मन को किस प्रकार आकष्ट कर पाते हैं।

इसके अतिरिक्त संग्रहालय एक सांस्कष्टिक धरोहर के रूप में हमारे सामने है और इसके माध्यम से हम बहुत बड़ा प्रचार कार्य भी कर सकते हैं जिसमें भाषण, प्रकाष्ठान, पत्रिका निर्देष्ठा पुस्तिका, दर्ष्ठानीय स्थान सूची, सांस्कष्टिक विषयों जैसे वेष्ठाभूषा पर पुस्तकें, सुन्दर कलात्मक एलबम आदि द्वारा यह कार्य पूरा किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त संग्रहालय का अपना एक सांस्कष्टिक केन्द्र होता है जो हम सबों को श्रेष्ठतर व्यवस्था के विषय में प्रेरित करता है। इस प्रकार हम जानते हैं कि संग्रहालय एक ऐसी जगह या संस्था है जहाँ मानव एवं प्रकष्टि के बीच पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन किया जाता है। संग्रहालय का उपयोग मानव ज्ञान के उन सभी विषयों के लिए हो सकता है जो मूर्त वस्तुओं के द्वारा प्रदर्ष्ठित किया जाता है।[7]

संग्रहालय का ष्ठौक्षणिक पक्ष

वर्तमान समय में संग्रहालय के बढ़ते हुए महत्त्व से कोई इनकार नहीं कर सकता। आज किसी भी देष्ठा के लिए संग्रहालय एक सजीव और महत्त्वपूर्ण संस्था मानी जाती है। जनसाधारण के सांस्कष्टिक ज्ञान की वष्द्धि का यह काफी सष्ठाक्त माध्यम माना जाता है। प्राचीन सभ्यता और ज्ञान की कई बातों की व्यावहारिक जानकारी केवल संग्रहालय के द्वारा ही हो सकती है। सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और सांस्कष्टिक सभी क्षेत्रों में आज इसके महत्त्व को स्वीकार किया जा चुका है परन्तु इसका जो महत्त्व ष्ठौक्षणिक क्षेत्र में है, वह किसी अन्य क्षेत्र में नहीं है। अब हम इसे निम्न प्रकार से देखेंगे।[8]

संग्रहालय एक ऐसी संस्था है जहाँ ज्ञान प्राप्त करने के लिए किसी भी प्रकार का कोई बन्धन नहीं है। यहाँ पर हर अवस्था, हर पेष्ठो, हर धर्म के व्यक्ति चाहे वह ष्ठिक्षित हो या अष्ठिक्षित

– संग्रहालय की प्रदर्शित वस्तुओं को देखकर अपने ज्ञान में वृद्धि कर सकता है। संग्रहालय एक ऐसी शिक्षण संस्था मानी जा सकती है जहाँ समय की भी कोई निश्चित पाबन्दी नहीं है।[9]

आज संग्रहालय के शैक्षणिक महत्त्व को विश्व में अनुभव किया जा रहा है और अब हर बड़े और महत्त्वपूर्ण संग्रहालय में इस बात की व्यवस्था पर जोर दिया जा रहा है कि वह संग्रहालय एक विकसित शिक्षण संस्था के रूप में कार्य करे। आज के युग में मशीनीकरण के कारण लोगों के पास पर्याप्त समय आराम के लिए निकल आता है। विदेशों में तो लोग सप्ताह में पाँच दिन ही कार्य करते हैं। शेष दो दिनों का उपयोग वे विभिन्न कार्यों जैसे मनोरंजन या अन्य बातों में लगाते हैं। इसी प्रकार छुट्टियों का सदुपयोग कुछ व्यक्ति संग्रहालय जैसी संस्था में जाकर और वहाँ प्रदर्शित वस्तुओं से लाभ उठाकर कर सकते हैं।[10]

संग्रहालय की शैक्षणिक उपयोगिता और बढ़ते हुए महत्त्व का इसी से अंदाजा लगाया जा सकता है कि अब वस्तु से शिक्षण संस्थाओं में ही संग्रहालय की व्यवस्था कर दी गयी है। बहुत सी शिक्षण संस्थाओं ने तो अपने पाठ्यक्रम में संग्रहालय से सम्बन्धित शिक्षा की व्यवस्था भी कर दी है। अपने देश में हाल ही में संग्रहालय शिक्षा के लिए एक अलग विश्वविद्यालय की ही स्थापना कर दी गयी है जो राष्ट्रीय संग्रहालय नयी दिल्ली के अधीन है।[11]

स्कूली बच्चे जो अवस्था में छोटे होते हैं वे किसी भी विषय को ग्रहण कर लेते हैं और संग्रहालय इस क्षेत्र में उनके लिए काफी मददगार साबित हो सकता है। बहुत सी ऐसी बात जो स्कूल में पढ़ायी जाती है या जो पुस्तकों में लिखा गया रहता है उसे बच्चे समझ नहीं पाते हैं और इससे पढ़ाई में उनकी रुचि समाप्त होने लगती है। इस प्रकार की परिस्थिति में संग्रहालय अपनी उपयोगिता सिद्ध कर सकता है। ऐसे बच्चों को शिक्षकों के साथ संग्रहालय जाना चाहिए और वहाँ प्रदर्शित वस्तुओं के माध्यम से जानकारी प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए।

संग्रहालय में वस्तुएँ इस प्रकार से प्रदर्शित की जाती है जिससे वे बच्चों या किसी भी व्यक्ति को अपनी ओर आकर्षित कर सकते हैं। उदाहरणस्वरूप सिन्धु सभ्यता की नगर योजना और वहाँ की विभिन्न संस्कृतियों की जानकारी उतनी रुचिकर और आनन्ददायक नहीं मालूम पड़ती पर बम्बई के प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय में सिन्धु-सभ्यता के विषय में अलग से ही जो गैलरी बनायी गयी है वह इतना आकर्षक है कि इतिहास के विद्यार्थियों के साथ-साथ साधारण व्यक्तियों को भी वह अपनी ओर आकर्षित कर लेता है और फिर उसके विषय में गहराई से अध्ययन करने की भावना को जागृत कर देता है। स्कूली बच्चों को उनकी रुचि के अनुसार प्रशिक्षण देना संग्रहालय के कार्य का एक प्रमुख अंग है।[12]

लेकिन संग्रहालय का शैक्षणिक महत्त्व केवल स्कूली बच्चों तक ही सीमित नहीं है वरन्

हर अवस्था और हर वर्ग के व्यक्तियों को यह ज्ञान प्रदान करवाता है। एक अच्छे संग्रहालय में जो एक शैक्षणिक क्षेत्र के रूप में भी कार्य कर सके, एक अच्छा पुस्तकालय, अच्छा भाषण देने का कमरा, एक छोटा सिनेमा हॉल तथा एक वाचनालय होना आवश्यक है। आज विश्व में जितने भी प्रमुख संग्रहालय हैं उनमें ये सारी सुविधाएँ उपलब्ध हैं। उच्च अध्ययन और शोध-कार्य में रुचि रखने वाले छात्रों को संग्रहालय में स्थित पुस्तकालय से काफी सहायता मिल सकती है। इन पुस्तकालयों में एक अच्छे वाचनालय की व्यवस्था भी आवश्यक है जहाँ लोग आराम से बैठकर अपना शोध कार्य पूरा कर सकें। इस वाचनालय के लिए संग्रहालय और इससे सम्बन्धित जो भी पत्र-पत्रिकाएँ हो सकती हैं उन्हें मँगवाना चाहिए। समय-समय पर संग्रहालय द्वारा विद्वानों के भाषण-मालाओं का आयोजन भी किया जाना चाहिए। इन भाषण-मालाओं के आयोजन के लिए संग्रहालय में एक अच्छे और सारी सुविधाओं से परिपूर्ण भाषण के लिए कमरे का होना आवश्यक है।[13] उन विशिष्ट विद्वानों के भाषण को टेप कर लेना चाहिए जिससे जो व्यक्ति उन भाषणों को नहीं सुन सकते हैं वे बाद में इन भाषणों के टेप से लाभान्वित हो सकें। इसके अतिरिक्त संग्रहालय बाद में इन भाषणों के टेपों को अन्य शिक्षण संस्थाओं में भेजकर वहाँ के छात्रों को भी अपने ज्ञान में वृद्धि करने का अवसर प्रदान कर सकता है। संग्रहालय में एक छोटे सिनेमा हॉल का होना भी आवश्यक है जहाँ भूमि एवं स्लाइड दोनों प्रकार के प्रोजेक्टर्स की व्यवस्था होनी चाहिए। विभिन्न अवसरों पर संग्रहालय से सम्बन्धित विभिन्न वस्तुओं की जानकारी स्लाइड एवं फिल्म के माध्यम से छात्रों और अन्य व्यक्तियों को दी जा सकती है। बहुत सी ऐसी दुर्लभ कलाकृतियों की जानकारी जो एक संग्रहालय को उपलब्ध नहीं हो सकती है उसके विषय में फिल्म के माध्यम से पूर्ण जानकारी प्राप्त की जा सकती है।[14]

इस प्रकार यदि किसी संग्रहालय में उपर्युक्त वर्णित सुविधाएँ हों तो वह संग्रहालय एक अच्छे शैक्षणिक केन्द्र के रूप में कार्य कर सकता है और जिसका लाभ छात्र या कोई भी व्यक्ति उठा सकता है।[15] टेलीविजन, रेडियो एवं एक अखबार के माध्यम से भी संग्रहालय और उसमें संग्रहित वस्तुओं के विषय में बतलाकर लोगों के ज्ञान में वृद्धि की जा सकती है और साथ ही लोगों की अभिरुचि को भी जागृत कराया जा सकता है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि प्रचार माध्यम द्वारा भी लोगों को संग्रहालय द्वारा शिक्षा प्राप्त करने की प्रेरणा दी जा सकती है।[16]

लेकिन जैसा कि प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि बच्चे संग्रहालय के माध्यम से सहज रूप से ही कुछ जानकारी प्राप्त कर सकते हैं इसलिए कोशिश यह करनी चाहिए कि ज्यादा-से-ज्यादा संख्या में बच्चे संग्रहालय जाकर यहाँ प्रदर्शित चीजों से लाभ उठावें। अब तो सरकार भी इस बात की आवश्यकता को महसूस कर रही है और इसलिए स्कूलों में भी छोटे-छोटे संग्रहालय खोलने की योजनाओं को कार्यान्वित किया जा रहा है। अत: इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्कूल के प्राचार्य,

शिक्षक तथा संग्रहालय का अधिकारी बच्चों को संग्रहालय के माध्यम से शिक्षा दिलवाने में कुछ मदद कर सकते हैं। संग्रहालय में प्रशिक्षित गाइड होते हैं जो वहाँ प्रदर्शित वस्तुओं के विषय में विस्तृत जानकारी प्रदान करवा सकते हैं। यदि बच्चे अपने स्कूल के शिक्षक के साथ वहाँ जाते हैं तो एक समय में ही उन्हें दो शिक्षकों से पढ़ने का अवसर प्राप्त हो जाता है- एक अपने स्कूल के शिक्षक के द्वारा और दूसरा संग्रहालय में प्रशिक्षित गाइड के द्वारा।[17]

हमें संग्रहालय सेवा क्षेत्र को केवल संग्रहालय तक ही सीमित नहीं रखना चाहिए। संग्रहालय के अधिकारियों को चाहिए कि गाँव-गाँव जाकर तथा पुस्तकों के माध्यम से लोगों को संग्रहालय और इसमें प्रदर्शित वस्तुओं की जानकारी देकर उनके ज्ञान में वृद्धि करें। संग्रहालय को समय-समय पर विभिन्न देशों की दुर्लभ कलाकृतियों को मँगवाकर उसे प्रदर्शित कर साधारण लोगों को भी इसके विषय में जानकारी दिलवाने की कोशिश करनी चाहिए। इस प्रकार की प्रथा हमारे देश में भी प्रारम्भ हो चुकी है। इधर कई अवसरों पर हमारे देश की दुर्लभ एवं अमूल्य कलाकृतियाँ विदेशों में और विदेशों की दुर्लभ कलाकृतियाँ हमारे देश में आईं जिनको प्रदर्शित कर साधारण लोगों को भी इसकी जानकारी प्रदान करवाकर उनके ज्ञान में वृद्धि की गयी।[18]

अत: यह निर्विवाद रूप में सिद्ध हो चुका है कि संग्रहालय का शैक्षणिक महत्त्व अधिक है। कोई भी व्यक्ति यहाँ आकर ज्ञान और शिक्षा प्राप्त कर सकता है। बहुत सी ऐसी बातों की जानकारी जिसे जानना और समझना सम्भव और आसान नहीं होता है केवल संग्रहालय में आकर ही मिल सकती है। स्कूली बच्चे तो खासकर संग्रहालयों से अधिक सीख सकते हैं। संग्रहालय जाने से यह भी पता चल जायेगा कि उनकी अभिरुचि किस क्षेत्र में अधिक है। इतिहास, कला, पुरातत्त्व किस क्षेत्र में उनका झुकाव अधिक है- इस बात की जानकारी भी संग्रहालय जाने पर ही पता चल सकता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि बहुत सी किताबों की बातों की जानकारी संग्रहालय जाने से ही मिल सकती है।

संग्रहालय के बढ़ते हुए महत्त्व से आज कोई भी इनकार नहीं कर सकता है। विभिन्न क्षेत्रों में इसकी उपयोगिता प्रमाणित हो चुकी है। सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में इसके महत्त्व को स्वीकार कर लिया गया है। लेकिन अब यह कोशिश की जा रही है कि लोग संग्रहालय को एक पूरी तरह से विकसित सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में जानें। संग्रहालय अब एक ऐसे सांस्कृतिक केन्द्र के समान होना चाहिए जिसका कार्य लोगों को ज्ञान और सभ्य जीवन से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं की जानकारी देना होता है। यह सांस्कृतिक केन्द्र इस प्रकार का होना चाहिए कि लोगों को यह कुछ दे सके और लोगों से यह कुछ ले सके। संग्रहालय के गलियारों में अब केवल बीते हुए कल की यादें ही नहीं सजानी चाहिए बल्कि वर्तमान स्वरूप की कुछ ऐसी चीजों का भी होना वहाँ आवश्यक है जो लोगों के सांस्कृतिक विकास में सहायक हो सकें।[19] हमलोग शैक्षिक

विकास की बात तो करते हैं पर संग्रहालय इसमें क्या भूमिका अदा कर सकता है, इस बात को हम भूल जाते हैं। आज जो भी व्यक्ति संग्रहालय विभाग से सम्बन्धित हैं उन्हें यह ध्यान रखना होगा कि संग्रहालय का निर्माण अब भविष्य की आवष्ठयकताओं को देखते हुए एक सांस्कष्तिक केन्द्र के रूप में किया जाय।[20] संग्रहालय अब केवल बच्चों और अनपढ़ लोगों के लिए एक अजायबघर या केवल पुरातात्त्विक वस्तुओं को संग्रह करने वाला घर ही नहीं होना चाहिए वरन् इसका विकास हमें अब इस रूप में करना चाहिए जो आधुनिक परिस्थिति के अनुसार हमारे मस्तिष्क और संस्कष्ति का विकास कर सके।

सन्दर्भः

1. कल्चरल फॉरम, वॉल्यूम 1, नं. 3, मार्च 1959, पष्ट 21
2. स्टडीज इन कन्जर्वेष्ठान, वॉल्यूम 8, नं. 3, अगस्त 1963, पष्ट 44
3. जर्नल ऑफ दि इण्डियन म्युजियम, वॉल्यूम 6, 1950, पष्ट 14
4. वही, वॉल्यूम 2, 1946, पष्ट 36
5. वही, वॉल्यूम 4, 1948, पष्ट 72
6. वही, वॉल्यूम 3, 1947, पष्ट 44
7. वही, पष्ट 57
8. वही, वॉल्यूम 1, 1945, पष्ट 14
9. वही, वॉल्यूम 12, 1956, पष्ट 74
10. वही, वॉल्यूम 2, 1946, पष्ट 18
11. वही, वॉल्यूम 4, 1948, पष्ट 77
12. वही, वॉल्यूम 1, 1945, पष्ट 21
13. वही, वॉल्यूम 4, 1949, पष्ट 57
14. वही, वॉल्यूम 2, 1946, पष्ट 32
15. वही, वॉल्यूम 2, 1946, पष्ट 18
16. वही, वॉल्यूम 3, 1947, पष्ट 77
17. वही, वॉल्यूम 4, 1948, पष्ट 72
18. वही, वॉल्यूम 9, 1953, पष्ट 76
19. वही, वॉल्यूम 13, 1957, पष्ट 44
20. म्युजियम, यूनेस्को, वॉल्यूम 1, 1948, पष्ट 66

माननीय न्यायमूर्तियों की दृष्टि में संस्कृत

डॉ. सुशीलकुमार पाण्डेय 'साहित्येन्दु'*

आम जन का विश्वास है कि न्यायमूर्ति ईश्वर के प्रतिनिधि होते हैं। वे दूध का दूध और पानी का पानी करने में सिद्ध होते हैं। इनके संस्कृत विषयक विचार अति महत्त्वपूर्ण हैं।

सर विलियम जोन्स (ब्रिटिश भारत के कलकत्ता सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश, 1783 ई. में भारत आये)-

"संस्कृत भाषा चाहे जितनी पुरानी हो, उसका गठन अद्‌भुत है। यह यूनानी भाषा की तुलना में अधिक परिपूर्ण, लातीनी की तुलना में अधिक सम्पन्न और दोनों की तुलना में बहुत अधिक परिष्कृत है।"[1]

सर जान वुडरफ हाईकोर्ट के जज थे, उन्होंने संस्कृत के तंत्रशास्त्र पर गहन मन्थन किया व बहुमूल्य लेखन किया। सन् 1885 ई. में जन्मे ऑक्सफोर्ड में पढ़े वुडरफ बैरिस्टर बनकर कोलकाता उच्च न्यायालय में आये। एक संन्यासी से जुड़ा ऐसा केस मिला कि फिर सब कुछ छोड़ भारतीय वाङ्मय में सारा जीवन खपा दिया। उन्होंने तंत्रशास्त्र पर बीस से अधिक ग्रन्थ लिखे। 'दि सरपेंटाइन पावर' नामक पुस्तक कुण्डलिनी पर एक अधिकृत ग्रन्थ माना जाता है। उन्होंने तंत्र विद्या एवं संस्कृत साहित्य का जो गहन अध्ययन किया, उससे वे शिक्षित जनों के बीच पहुँचे। लोकमान्यता उन्हें मिली। अपने इस विद्यादान-समयदान के लिए वे हमेशा याद किये जाते रहेंगे। प्रमाणित होता है कि भारत की देवभाषा संस्कृत विश्व की सबसे समृद्ध और सुनिश्चित उच्चारण वाली भाषा है जिसे आज सारे विश्व में पढ़ाया जा रहा है।[2]

इलाहाबाद उच्च न्यायालय -

"संस्कृत को न्यायालय की भाषा की अनुमति नहीं दी जा सकती।" इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने एक महत्त्वपूर्ण निर्णय दिया है कि संस्कृत भाषा में याचिका हाईकोर्ट में दायर नहीं की जा सकती। हाईकोर्ट ने फैसले में कहा कि भारतीय संविधान संस्कृत भाषा को हाईकोर्ट में याचिका के रूप में स्वीकार करने की अनुमति नहीं देता। अदालत ने कहा कि इस भाषा को न केवल

*एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, सन्त तुलसीदास स्नातकोत्तर महाविद्यालय, कादीपुर, सुल्तानपुर (उ.प्र.)

याचिका के रूप में अस्वीकार किया जा सकता है, अपितु इस संस्कृत भाषा में न तो कोई आदेश, निर्णय, हलफनामा, अपील, पुनरीक्षण, जवाबी हलफनामा आदि ही किया जा सकता है।

यह निर्णय न्यायमूर्ति सभाजीत यादव ने वीरेन्द्र शास्त्री शोध संस्थान की याचिका को खारिज करते हुए दिया है। यह याचिका संस्कृत भाषा में 24-25 वर्ष पूर्व हाईकोर्ट में दायर की गयी थी। उस समय इस याचिका को तत्कालीन न्यायाधीश बी.एल. यादव ने विचारार्थ स्वीकार कर लिया था। याचिका को खारिज कर कोर्ट ने कहा है कि संविधान उ.प्र. में हिन्दी भाषा को कोर्ट के कामकाज करने की अनुमति देता है। इस भाषा में याचिका दायर हो सकती है तथा आदेश भी दिया जा सकता है परन्तु किसी जज को हिन्दी में फैसला देने को विवश नहीं किया जा सकता। वादकारी अथवा उसके वकील को हिन्दी में बहस करने से भी नहीं रोका जा सकता। हिन्दी में दायर याचिका के सम्बन्ध में कोर्ट ने कहा है कि हाईकोर्ट की अथॉरिटी से इसका अंग्रेजी में अनुवाद कराना होगा। संस्कृत भाषा पर कोर्ट ने कहा है कि इसकी अनुमति अदालती प्रयोग के लिए नहीं दी जा सकती।[3]

वीरेन्द्र शास्त्री शोध संस्थान की ओर से संस्कृत में दाखिल याचिका में कहा गया था कि अब से लगभग चौबीस वर्ष पूर्व हाईकोर्ट में संस्कृत में याचिका दाखिल की गयी थी। उस पर सुनवाई करते हुए तत्कालीन न्यायमूर्ति बी.एल. यादव ने दो जुलाई 1986 को आदेश भी पारित किया था।[4]

न्यायमूर्ति पी.के.एस. बघेल ने कहा है कि संस्कृत भाषा विश्व की सबसे प्राचीन भाषा है। राज्य सरकार को इसकी संरक्षा एवं प्रोत्साहन का प्रयास करना चाहिए। कोर्ट ने कहा है कि राज्य सरकार की उपेक्षा एवं उदासीनता के चलते संस्कृत विद्यालयों की दयनीय हालत है। सरकार की वित्तीय सहायता न मिलने के कारण संस्कृत विद्यालय बन्दी के कगार पर हैं। कोर्ट ने सरकार को संस्कृत विद्यालयों को प्रोत्साहित करने के लिए उपाय करने के आदेश दिये हैं। यह आदेश न्यायमूर्ति पी. के.एस. बघेल ने आर्य गुरुकुल महाविद्यालय सिरसागंज, फिरोजाबाद की प्रबन्ध समिति की याचिका को निस्तारित करते हुए दिया है।[5]

इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति बनवारीलाल यादव ने अनेक निर्णय संस्कृत भाषा में दिये थे।[6]

संयोग यह है कि संस्कृत भाषा में अनेक निर्णय लिखने वाले न्यायमूर्ति बनवारीलाल यादव द्वारा स्वीकार की गयी याचिका न्यायमूर्ति सभाजीत यादव द्वारा खारिज कर दी गयी। न्यायमूर्ति सभाजीत यादव के निर्णय पर कोई टिप्पणी न करते हुए इस सरकार से और प्रधान न्यायाधीश महोदय से निवेदन किया जा सकता है कि जब अनुच्छेद 350 'क' में संघ या राज्य में प्रयुक्त होने वाली किसी भाषा में अभ्यावेदन देने का अधिकार है और आठवीं अनुसूची में संस्कृत है तो संस्कृत भाषा में दिये गये अभ्यावेदन पर विचार करने की व्यवस्था की जानी चाहिए। मा. सर्वोच्च न्यायालय

ने 1994 में संस्कृत की रक्षा करने का आदेश सरकार को दिया था। न्यायमूर्ति बनवारीलाल यादव ने 2 जुलाई 1986 को पारित आदेश में क्या कहा था अवश्य खोज करने लायक है। न्यायमूर्ति पी. एस. बघेल ने राज्य सरकार को स्पष्ट आदेश दिया कि राज्य सरकार को संस्कृत भाषा की संरक्षा एवं प्रोत्साहन का प्रयास करना चाहिए।

उच्च न्यायालय का मानना है कि योग व नैतिकता की शिक्षा के बिना उत्तम स्वास्थ्य की प्राप्ति तथा भ्रष्टाचार से मुक्ति नहीं मिल सकती। समाज अनुशासनहीन हो रहा है। जनता के खजाने की हिफाजत करने वाले ही भ्रष्टाचार में रमे हैं। यहाँ तक कि न्यायिक जगत् से जुड़े लोगों पर भी भ्रष्टाचार और अन्य अनैतिक कार्यों में लिप्त होने को लेकर उंगली उठ रही है और सभ्य समाज धीरे-धीरे जंगलराज में तब्दील होता जा रहा है। अपराध पर रोक लगाने सम्बन्धी ढेरों कानून होने के बावजूद कोई भी अपने आपको सुरक्षित महसूस नहीं कर रहा है। इसकी वजह हमारी शैक्षणिक व्यवस्था है, जिसमें यौगिक विज्ञान व नैतिकता सिखाने के अहम अध्याय नहीं हैं जिनमें यह सिखाया जाय कि लोग कैसे अपने दिमाग को कण्ट्रोल करें। सामाजिक नियंत्रण व कानून का सम्मान करने की ट्रेनिंग न होने से एक समय ऐसा आयेगा जब मनुष्य व पशु में अन्तर खत्म होता जायेगा।

न्यायमूर्ति देवी प्रसाद सिंह तथा न्यायमूर्ति अरविन्द कुमार त्रिपाठी द्वितीय की खण्डपीठ ने मौजूदा हालात की हकीकत बयां करने वाली यह अहम टिप्पणी नेचुरोपैथी व योग चिकित्सा की अहमियत सम्बन्धी फैसले में की है। अदालत ने कहा कि योग सिर्फ शारीरिक फिटनेस के लिए नहीं है बल्कि यह संवैधानिक ओहदेदारों के लिए मन को नियंत्रित (कण्ट्रोल) करने का औजार (टूल) है। गीता का राजयोग उन लोगों के लिए है जो देश सेवा में लगे हैं जबकि भक्तियोग व ज्ञानयोग उनके लिए है जो विभिन्न पेशों में लगे होकर पारिवारिक जीवन बिता रहे हैं। कोर्ट ने कहा कि देश जिस समस्या से जूझ रहा है वह यह है कि पुरखों द्वारा सदियों से आजमाये गये योग को सही रूप में सरकार ने मान्यता नहीं दी। जब पश्चिमी दुनिया नेचुरोपैथी व योग की अहमियत समझने लगी, तब हम जागे और अब एलोपैथी के साथ योग व नेचुरोपैथी को आंशिक रूप से अपनाने लगे हैं। कोर्ट ने कहा कि प्राचीन भारत की सभ्यता, पुरानी रीतियाँ, परम्पराएँ व ज्ञान अब भी वेद, उपनिषद् व अन्य किताबों में उपलब्ध हैं। मानवीय समस्याओं व सम्बन्धित विषयों से रू-ब-रू होते वक्त इनकी अनदेखी नहीं की जानी चाहिए।[7]

माननीय उच्च न्यायालय का मन्तव्य स्पष्ट है कि हमें वेदों तथा उपनिषदों की मूल भावनाओं को अपनाना होगा। ये ग्रन्थ संस्कृत भाषा में ही हैं।

बम्बई उच्च न्यायालय - सर अस्किन पेरी (प्रधान न्यायाधीश बम्बई उच्च न्यायालय)-

इस एक ही बात से संस्कृत लिपि की सर्वांगपूर्णता सिद्ध होती है कि उसमें प्रत्येक शब्द

का उच्चारण अक्षर देखकर होता है। वर्ण परिचय होते ही हिन्दुस्तान के लड़के बिना रुके कोई भी पुस्तक पढ़ने लग जाते हैं। भले ही उन्हें विषय का ज्ञान न हो पर पढ़ने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती। यूरोप में पुस्तकों को साधारण रीति से पढ़ने के लिए बालकों को दो वर्ष लगते हैं और यहाँ जहाँ संस्कृत का प्रचार है, तीन महीने में लड़के पुस्तकें पढ़ने लगते हैं। "नोट्स टू ओरिएण्टल केसेस की भूमिका।"[8]

चेन्नई उच्च न्यायालय-

संस्कृत जीवन्त भाषा है। इसे मृत इस आधार पर नहीं कहा जा सकता कि यह बोलचाल की भाषा नहीं है।[9] (चेन्नई उच्च न्यायालय, 02 जनवरी, 1999) द्रविड़ मुन्नेन्द्र कड़गम सरकार (तमिलनाडु) ने नवम्बर 1997 ई. में चेन्नई उच्च न्यायालय में अपनी प्रति याचिका में कहा था कि - "संस्कृत मृत भाषा है तथा आम जन से दूर है।" परन्तु चेन्नई उच्च न्यायालय ने 02 जनवरी 1999 ई. को अपने निर्णय में उक्त बात कही थी।

सर्वोच्च न्यायालय - न्यायमूर्ति कुलदीप सिंह तथा **न्यायमूर्ति बी.एल. हंसारिया** (दिनांक 04. 10.1994)-

किसी देश की सीमा के साथ उसकी संस्कृति की रक्षा भी मुख्य राष्ट्रीय दायित्व होता है। हम भारतवासियों के लिए संस्कृत का अध्ययन देश की सांस्कृतिक धरोहर की रक्षा के लिए किया जाता है। यदि शैक्षिक पाठ्यक्रम से संस्कृत को हतोत्साहित किया जायेगा तो हमारी संस्कृति की धारा ही सूख जायेगी। शिक्षा के अनेक मानवीय उद्देश्यों एवं उपर्युक्त विषयों (अनेक विस्तृत सन्दर्भों के परिप्रेक्ष्य में) की पूर्ति संस्कृत के स्थान के बिना असम्भव है। अत: शिक्षा व्यवस्था में संस्कृत के पठन-पाठन का स्थान सुरक्षित किया जाना चाहिए। इन्हीं टिप्पणियों के साथ अदालत ने सी.बी.एस. ई. को स्कूली पाठ्यक्रम में संस्कृत को एक वैकल्पिक विषय के रूप में पढ़ाने का आदेश जारी किया। अदालत ने पाठ्यक्रम निर्माताओं को इस तथ्य से अवगत कराया कि संविधान की आठवीं अनुसूची में संस्कृत को इसलिए शामिल किया गया ताकि देश की संस्कृति को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाली हिन्दी शब्दावली के विकास में मुख्य रूप से संस्कृत से सहयोग लिया जा सके।[10]

भारत के उच्चतम न्यायालय ने सन् 1994 ई. में स्कूलों की पढ़ाई पर दिये गये अपने महत्त्वपूर्ण निर्णय में सभी सन्देहों और शंकाओं का निराकरण कर दिया है। "हमें अपने मन में कोइ सन्देह नहीं रहा है कि वैकल्पिक विषय के रूप में केवल संस्कृत का अध्यापन किसी भी प्रकार से धर्मनिरपेक्षता के विरुद्ध माना जायेगा। वास्तव में हमारा संविधान संस्कृत को प्रोत्साहन देना चाहता है; क्योंकि अनुच्छेद 351 में भी कहा गया है कि जिससे हिन्दी को प्रोत्साहन देने और प्रसार के लिए संविधान के कर्तव्य का वर्णन करते समय इस बात का प्रावधान रखा गया कि जब भी इसकी

शब्दावली के लिए यदि आवश्यक और वांछित हो तो यह मुख्य रूप से संस्कृत से शब्द ग्रहण करेगी। अतएव संस्कृत को भी प्रोत्साहन देना आवश्यक है; क्योंकि यह संविधान की आठवीं सूची में सम्मिलित भाषाओं में से एक है।"

इसी निर्णय में आगे कहा गया है - अत: यह कहते हुए निष्कर्ष निकालते हैं कि हमारी सांस्कृतिक धरोहर को पोषित करने के लिए महत्त्व के दृष्टिकोण से जिसके कारण राजकीय शिक्षा नीति तक ने संस्कृत की शिक्षा की आवश्यकता पर जोर दिया है, जिसने केवल संस्कृत को ही एक वैकल्पिक विषय बना दिया है। जबकि यह दर्जा अरबी और फारसी को नहीं दिया गया, किसी भी प्रकार धर्म निरपेक्षता के मूल सिद्धान्तों के विरुद्ध नहीं जाता।[11] (1988 के त्रिभाषा सूत्र तथा 1986 की शिक्षा नीति में संस्कृत भाषा की उपेक्षा के सन्दर्भ में उच्चतम न्यायालय में दायर याचिका के निर्णय में सर्वोच्च न्यायालय ने उक्त टिप्पणी की थी।)

न्यायमूर्ति मार्कण्डेय काटजू तथा **न्यायमूर्ति अशोक कुमार गांगुली** (दिनांक 04.10.1994)-भारतीय न्यायशास्त्र के प्राचीन मीमांसा सिद्धान्तों के मामले में देश के वकीलों की अज्ञानता पर सुप्रीम कोर्ट ने गहरा अफसोस जताया है। शीर्ष अदालत ने कहा है आजकल तथाकथित शिक्षित लोग लगातार हमारे पूर्वजों की महान उपलब्धियों को नजरंदाज कर रहे हैं। जबकि एक सदी पूर्व अंग्रेज हुकूमत में अदालतों में इन सिद्धान्तों का उपयोग किया जाता था। न्यायमूर्ति मार्कण्डेय काटजू व न्यायमूर्ति अशोक कुमार गांगुली की पीठ ने भूमि अधिग्रहण मामले में दिये गये फैसले में कहा कि यह बहुत अफसोस की बात है कि देश की अदालतों में वकील मैक्सवेल और क्रेस के सिद्धान्तों का उदाहरण देते हैं। लेकिन कोई भी अपनी संस्कृति के मीमांसा सिद्धान्तों की व्याख्या नहीं करता। अधिकांश ने इनके अस्तित्व के बारे में सुना भी नहीं है। 1892 में इलाहाबाद के मुख्य न्यायाधीश सर जॉन एज ने अपने फैसलों में मीमांसा के सिद्धान्तों का प्रयोग किया था जिसके बाद सौ साल से अधिक समय से किसी ने देश के निजी सिद्धान्तों का उपयोग नहीं किया। अधिकतर मीमांसा सिद्धान्त तर्कसंगत और वैज्ञानिक आधार पर हैं, जिनका उपयोग कानून क्षेत्र में किया जा सकता है। जिनमें से एक संग्रह टैगोर विधि व्याख्यान-1905 में दिया गया है। सर्वोच्च अदालत ने फैसले में कहा है कि मीमांसा सिद्धान्तों की व्याख्या जैमिनी ने 6 शताब्दी ई.पू. के आसपास की थी।

मैक्सवेल की किताब का पहला संस्करण 1875 में प्रकाशित हुआ था। जबकि भारत में ऐसी व्याख्या 2500 साल पहले की जा चुकी थी। सौ से अधिक किताबें (संस्कृत में) इन विषयों पर लिखी गयी थीं। जबकि समय की मार से अब एक दर्जन ही मौजूद हैं लेकिन इनमें विषय की व्याख्या की गहराई स्पष्ट है। निषेध विधियों में व्यापक तौर पर पालन की अनिवार्यता रखी गयी थी। प्रतिपदा और प्रदोष को चाँद की चाल के आधार पर इन्हीं सिद्धान्तों में स्पष्ट है। जिसमें समय के अनुसार निषेध किये गये कार्यों और विशेष प्रावधानों को दर्शाया गया।[12]

न्यायमूर्ति मार्कण्डेय काटजू (उच्चतम न्यायालय)-

प्राचीन काल में भारत और चीन विज्ञान, गणित सहित शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में अन्य देशों से काफी आगे थे, लेकिन आज हम विज्ञान एवं शिक्षा के क्षेत्र में विकसित देशों के पीछे दौड़ रहे हैं। उसका एक कारण यह भी था कि प्राचीन काल में विज्ञान व साहित्य संस्कृत भाषा में सम्पन्न थे। हमने काफी कुछ खो दिया है।[13]

न्यायमूर्ति दलबीर भण्डारी (उच्चतम न्यायालय)-

इटली और यूनान के पास भी पाण्डुलिपियों का इतना बड़ा भण्डार नहीं है जितना कि संस्कृत के पास है। संस्कृत भाषा विश्व की सभी भाषाओं में श्रेष्ठ मानी जाती है। संस्कृत वैज्ञानिकता से परिपूर्ण अति समृद्ध भाषा है, इसे विदेशी भी स्वीकार करते हैं। संस्कृत की ध्वनियाँ और वर्णमाला दोनों अद्भुत हैं। इसीलिए इसे देववाणी कहते हैं।[14]

न्यायमूर्ति एन.के. मेहरोत्रा (लोकायुक्त उत्तर प्रदेश)-

संस्कृत की उपेक्षा करके राष्ट्र का विकास नहीं किया जा सकता। जातिवाद का कारण संस्कृत नहीं बल्कि वोट की राजनीति है। संस्कृत को किसी धर्म से जोड़ना ठीक नहीं है। संस्कृत को रोजगारपरक बनाना चाहिए और अंग्रेजी स्कूलों समेत सभी विद्यालयों में माध्यमिक स्तर तक संस्कृत शिक्षा अनिवार्य बनायी जानी चाहिए।[15]

जस्टिस कृष्णास्वामी अय्यर -

समस्त भारतीय भाषाओं के लिए यदि कोई एक लिपि आवश्यक हो तो वह देवनागरी हो सकती है।[16]

बम्बई उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति पी.बी. काणे ने प्राचीन संस्कृत साहित्य विशेषकर धर्मशास्त्र का अध्ययन कर छः खण्डों में हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र लिखा। उन्हें 'भारत-रत्न' से सम्मानित किया गया था।

माननीय न्यायाधीशों को जो कहना था कह दिया, जो करना था, कर दिया। अब हम आप सोचें कि क्या करना है?

सन्दर्भः

1. संस्कृत में अनुवाद कैसे करें? लेखक- उमाकान्त मिश्र शास्त्री, भारती भवन पटना-1, 1971 समीची वाक् पृष्ट13
2. 'आज' लखनऊ, 27 सितम्बर 2013
3. 'राष्ट्रीय सहारा', 05 अक्टूबर 2010, पृष्ट 12
4. 'हिन्दुस्तान' लखनऊ, 05 अक्टूबर 2010, पृष्ट 09

5. 'दैनिक जागरण' लखनऊ, 10 मई 2014, पृष्ठ 13
6. ऐसा सुना जाता है।
7. 'अमर उजाला' लखनऊ, 24 जुलाई 2014, श्री मनोज कुमार सिंह की सूचना से।
8. संस्कृत में अनुवाद कैसे करें? लेखक- उमाकान्त मिश्र शास्त्री, भारती भवन पटना-1, 1971 समीची वाक् पृष्ठ 13
9. 'हिन्दुस्तान' लखनऊ, 30 सितम्बर 1999, पृष्ठ 09
10. 'राष्ट्रीय सहारा' लखनऊ, 03 जुलाई 2011, श्री मोहनचन्द्र तिवारी का आलेख
11. संस्कृत भाषा का उद्भव एवं विकास, डॉ. रामानन्द शुक्ल, अनुबन्ध प्रकाशन, बड़ी कुटिया अयोध्या, फैजाबाद
12. 'अमर उजाला', 23 अगस्त 2009
13. 'हिन्दुस्तान' लखनऊ, 28 नवम्बर 2010
14. 'राष्ट्रीय सहारा' लखनऊ, 28 मार्च 2010, पृष्ठ 13, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के दीक्षान्त समारोह के दीक्षान्त भाषण का अंश।
15. 'आज' लखनऊ, 01 जुलाई 2010, राष्ट्रीय संस्कृत संस्था गोमतीनगर लखनऊ में संस्कृत शिक्षक प्रशिक्षण वर्ग के समापन के अवसर पर दिया गया वक्तव्य।
16. 'यूनाइटेड भारत' इलाहाबाद, रविवार 03 मार्च 2013

विलियम ष्ठेक्सपियर के नाटक मेकबेथ के कुछ अंष्ठों का हिन्दी ब्लैंकवर्स में भावानुवाद

प्रो. रोहिताष्ठव श्रीवास्तव*

अंक 1, दष्ठय-1, लाइन्स 1-13

(विद्युत कौंधे, बादल गरजे, तीन डाकिनियों (विचेज) का प्रवेष्ठा)

प्रथम डाकिनी- हम तीनों मिल रहीं यहाँ जो,
पुनः मिलेंगी हम सब अब कब?
क्या तब, जब हों मेघ गरजते, या कि गगन में चपला चमके?
या कि, जब हो वष्ठि झराझर, (और प्रकष्ठि का कोप भयंकर?)

द्वितीय डाकिनी- तब, जब हलचल[1] बन्द युद्ध की,
निर्णय हो, जब हार-जीत में,
(तभी मिलेंगी फिर से हम सब)।

तष्ठीय डाकिनी- पर, यह, जब रवि अस्त हो रहा,
अन्धकार छाने लग जाये;
चलो चलें वीरान[2] जगह पर
(युद्ध जीत जब लौट रहा हो)
वह[3] फाइफ की समर भूमि से।

सभी- अष्ठुभ हमें, जो ष्ठुभ[4] मानव को,
अष्ठुभ उसे जो, वह ष्ठुभ हमको,
(कैसी भिन्न प्रकष्ठि हम सब की),

---

*प्रवक्ता, अंग्रेजी

हम मँडरातीं[5] वहाँ, जहाँ हो वायु प्रदूषित[6], कुहरा[7] काला,
(हो कुरूप[8] जब रूप प्रकृति का,
सहम जायँ सब जीव चराचर।)

अंक 1, दृश्य-2, लाइन्स 9-40

(सार्जण्ट और नष्ट डंकन के संवाद)

सार्जण्ट- असमंजस[9] में हार-जीत थी समर भूमि पर,
युद्ध हो रहा था (मेकबेथ औ' मेकडोनाल्ड में)।
जैसे दो तैराक चितेरे[10] श्रान्त-क्लान्त[11] हों,
रोक[12] रहे हों राह परस्पर एक-द्वय[13] का,
मेकडोनाल्ड क्रूरतम बागी[14] अहंकार में निज सेना के,
लेकर अक्षौहिणी[15] सुसज्जित, और सुदृष्ट हो शस्त्र-कवच[16] से,
टूट पड़ा[17] योद्धा मेकबेथ पर, आकर तब पश्चिमी[18] द्वीप से।
पर सब हुआ प्रभावहीन[19] जब,
नर[20] पुंगव वह वीर मेकबेथ,
दुष्टमन के शोणित की प्यासी निज तलवार हाथ में लेकर,
ढूँढ़ रहा था मेकडोनाल्ड को, मानों दे ललकार[21] भाग्य को।
तब मेकबेथ ऐसा दिखता था, जैसे कन्त[22] वीरत्व[23] देवि का।
दुष्टमन के सिर काट-काट कर, और लाँघ शोणित वैतरणी,
आ धमका सम्मुख डोनाल्ड के।
ना तो उससे हाथ मिलाया, ना कोई सत्कार[24] जताया,
बल्कि नाभि[25] फाड़[26]' डोनाल्ड की,
और उसका सिर धड़ से अलग कर,
निज भाले की नोक पर ले कर,
सजा दिया उन[27] कंगूरों पर।

नष्ठ डंकन– सचमुच में तब वीर[28] 'कज़िन' तुम, इतने बड़े भलामानुस हो।

सार्जण्ट– (कैसी विडम्बना[29] होती है),

जिस प्राची[30] के दूर क्षितिज पर सूरज उगता,

(जग को देता उजियाला, औ' जीवन नूतन),

उसी क्षितिज से अन्धड़ और तूफान उमड़ते,

जो जलयानों को समुद्र में विचलित करते

(या कि उन्हें निज जलसमाधि[31] को हैं धकेलते);

जिस दिगन्त[32] से विजय, सुरक्षा आते दिखते,

उसी दिष्ठा से खतरे[33] और पराजय आते[34]।

सुनें धरापति, स्काटलैण्ड के भूपति सुनलें[35],

जैसे ही वह वीर मेकबेथ न्यायसमर्थक,

करने दमन उपद्रवियों के समक्ष आ पड़ा,

दर्प दमन कर रौंद रहा था वैरी दल को,

नार्वे का वह भूपति स्वीनो, दुष्ठमन के खेमे का साथी,

नयी कुमुक[36] के साथ सुसज्जित[37],

अस्त्र-ष्ठास्त्र ले कर आ धमका,

और कर बैठा नया आक्रमण[38]।

डंकन– क्या भयभीत[39], निराष्ठा हो उठे,

इस धावे से बेंको, मेकबेथ,

(सेनापति द्वय स्काटलैण्ड के?)

सार्जण्ट– हाँ स्वामी!, पर अन्य भाव से।

गौरैयों में बाज़ सदष्ठा, औ' खरहों[40] में मष्ठराज[41] सदष्ठा वे,

(सेनापति द्वय मेकबेथ, बेंको)

टूट पड़े वैरी दल पर ऐसे तेवर से,

ज्यों दुगुनी[42] बारूद भरी हो किसी तोप[43] में।
दुहरे, तिहरे धावों[44] से वैरी को रौंदते,
दुष्ठमन के ष्ठोणित से स्नात[45] गात[46] था उनका,
उनके खड्ग थे रुधिर पी रहे वैरी दल के;
मार-काट औ' घमासान से रुण्ड-मुण्ड कट,
समर भूमि पर लक्ष-लक्ष इस तरह पड़े थे
लगते नर कपाल की कोई पर्वत माला,
'गलगोथा'[47] के महासमर की याद दिलाते।

References:

1. tumult (hurly burly)
2. deserted heath
3. foul (evil)
4. fair (good)
5. hover
6. filthy air
7. fog
8. dismal
9. doubtful
10. expert
11. spent, exhausted
12. choke, hinder
13. eachother
14. rebel (traitor)
15. kems, troops
16. swarmed, fell
17. Western Isle
18. armours, gallowglasses
19. too weak
20. excellent
21. defying, disdaining
22. darling, minion (Bellona's bridegroom)
23. valour, courage
24. bade farewell
25. nave, naval
26. unseemed, chopped
27. battlements
28. vallaint
29. Irony, mockery
30. east
31. shipwrecking
32. direction
33. discomfort, danger
34. swell, come
35. mark, listen
36. army, troop
37. furnished
38. fresh assault
39. dismay'd frightened
40. hares
41. lions
42. double cracks (gun powder)
43. cannons overcharged with
44. strokes, attacks
45. bathed
46. body
47. A hill of Crucifixion near Jerusalem. A big heap of human skulls because of mass murders.
48. memorise.

भारत के आधुनिक जीवन में सततता एवं परिवर्तन

डॉ. अनुज प्रताप सिंह*

ब्रह्माण्ड में नित्य और अनित्य का अद्‌भुत समायोजन है। हर वस्तु की चिन्तन और विचार की एक स्वस्थ परम्परा होती है, पर एक स्थिति, दष्ठा या रूप में सर्वदा उसका ग्रहण नहीं हो पाता है, युग की दष्ठाएँ या कालचक्र उसमें हस्तक्षेप करता है। फलतः जो चल चुका रहता है या ग्रहण कर लिया गया होता है- उसमें बदलाव लाया जाता है या स्वतः बदलाव आ जाया करता है। अतः परिवर्तन कोई आमूल नयी चीज न होकर आती हुई परम्परा या सततता का वर्तमान ग्राह्य रूप होता है। परिवर्तन वस्तु का नहीं ष्ठौली का होता है। परम्परा और आधुनिकता एक दूसरे के पूरक हैं। जो आज आधुनिक है - वही कल परम्परा कही जायेगी। हर अतीत एक दिन वर्तमान रहता है और हर वर्तमान दूसरे दिन अतीत हो जाता है। प्राणी युगानुकूल सबको ग्रहण करता चलता है। ऐसा करना भी चाहिए। सब में गुण-दोष होते हैं, मानव को अपने विवेक से ग्रहण और त्याग करना चाहिए। निर्णय गुणवत्ता पर आधारित होना चाहिए न कि प्राचीनता और आधुनिकता पर। सबमें बदलाव आता है-इससे जीवन्तता बनी रहती है। इस बदलाव की भी परम्परा होती है। अनायास कुछ-का-कुछ नहीं हो जाता है। यह बात दूसरी है कि जब मकान की दीवारों पर प्लास्टर हो जाता है, या जब भवन बन जाता है तो दीवार की मूल ईंटें या बुनियाद का दर्ष्ान नहीं होता है। दुनिया तो बावली होती है- जो रंग-बिरंगा देखती है और उसके भीतर के मूल रूप को भूल जाती है। कोई अद्‌भुत प्राणी आकर उसको समय-समय पर समझाता है कि इसको ही नहीं उसको भी देखो, बाहर ही नहीं भीतर भी देखो, आगे ही नहीं पीछे भी देखो, ऊपर ही नहीं नीचे भी देखो। अतः ढंग से देखो, तो असलियत का पता चलेगा।

हमारा विवेच्य है कि आधुनिक भारतीय जीवन में सततता और परिवर्तन क्या है? वे कौन-से मूल्य हैं - जो सतत चलते आ रहे हैं तथा उनमें किस प्रकार, क्यों और किसके द्वारा परिवर्तन हुए? हमारा आधुनिकता से आष्ठाय है - स्वातंत्र्य की भावना की प्रबलता के काल से, अर्थात् बीसवीं ष्ठाताब्दी से। यही राष्ट्रीय चेतना की ष्ठाताब्दी है। उसी चेतना का फल है - स्वतंत्र भारत।

अंग्रेजी राज्य से भारत में ष्ठोषण का एक नया रूप आया। उनकी औद्योगिक नीतियों से हमारे

*मीरा भवन, 1228/ए, वार्ड-9, मोहल्ला एवं गली- राजा विजयपुर कोठी, सिविल लाइन्स, मीरजापुर, उ.प्र.-231001

कुटीर उद्योग नष्ट होने लगे, हमारे कच्चे माल विदेष्ठा जाने लगे। मुगलों और नवाबों ने ऐसा कभी नहीं किया था। यही नहीं अंग्रेजी ष्ठासन से भारतीय समाज तथा धर्म में भी अव्यवस्था फैल गयी। चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्यकला और संगीतकला का पतन होने लगा। आम आदमी को इन गिरावटों का पता नहीं चला। पर देष्ठा-दष्ठा को देखकर तथा अपने अतीत को मिटते हुए देखकर 19वीं ष्ठाताब्दी में कुछ जागरूक देष्ठावासियों ने सुधार और बचाव का बीड़ा लिया। उन लोगों ने परिवर्तन को स्वीकार किया, पर सततता या अपनी परम्परा को देखते हुए।

अंग्रेजी विकास को लोगों ने स्वीकार किया। यद्यपि इसके पीछे उनकी व्यापार नीति और ष्ठासन के स्थायित्व की तमन्ना थी - फिर देष्ठा को भी लाभ हुआ। उनके संसाधनों से लोग विष्ठव से जुड़े, अनेक नयी बातों से भी परिचित हुए। अंग्रेजी भाषा और नयी ष्ठिक्षानीति का प्रचार-प्रसार हुआ। हमारी गुरुकुल प्रणाली, गष्ठष्ठिक्षा, मकतबों की ष्ठिक्षा और संस्कष्ठ पाठष्ठालाओं की ष्ठिक्षा को स्कूली रूप दिया गया। लोग विदेष्ठा गये और विज्ञान, कानून तथा तकनीकि की ष्ठिक्षा लेकर अन्धविष्ठवासों से ऊपर उठे। 19वीं ष्ठाताब्दी में अनेक मिष्ठानरियाँ यूरोप, कनाडा, अमेरिका आदि देष्ठों से भारत में आयीं। उनका उद्देष्ठय था ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार और भारतीयों को ईसाई बनाना। उनके विद्यालय, चिकित्सालय, चर्च, अनाथालय बने। बाइबिल का अनुवाद भारतीय भाषाओं में हुआ। इसके साथ संस्कष्ठ के ग्रन्थों पर अंग्रेजी में कार्य हुए। इन सब चमत्कारों के चक्कर में प्रसिद्ध भारतीय मास्टर रामचन्द्र (दिल्ली) तथा मधुसूदन दत्त (कलकत्ता) तक ईसाई हो गये। इनको हमारे सच्चे भारतीय सहन न कर सके और अपने हिन्दू धर्म की विष्ठेषताओं को लेकर सामने आये। ऐसे लोगों ने हिन्दू धर्म को नये ढंग से प्रस्तुत किया। फलतः हमारा प्राचीन गौरव आधुनिक रूप में सामने आया। विदेष्ठी विज्ञान भी इधर आकर्षित हुए। मुद्रणकला के आविष्कार से सबको बड़ी मदद मिली।

इस पावन कार्य में जिन भारतीयों ने भाग लिया, उनके श्रेय को भुलाया नहीं जा सकता है। ऐसे लोगों में राजा राममोहन राय (1772-1833 ई.) का नाम सर्वोपरि है। उन्होंने अपनी पहली पुस्तक 'तोफेतुल मुहाउद्दीन' में यह सिद्ध किया कि सारे धर्मों की वास्तविक जड़ एकेष्ठवरवाद में है, अन्य सारी बातें व्यर्थ का दिखावा हैं। उन्होंने फ़ारसी, अरबी, बंगला, संस्कष्ठ और अंग्रेजी साहित्य का गहन अध्ययन किया। उनको धार्मिक वाद-विवाद में बड़ा सुख मिलता था। उन्होंने बहुदेवोपासना और मूर्तिपूजा का विरोध किया। सती प्रथा का भी उन्होंने विरोध किया। उनके मना करने के उपरान्त भी उनकी भाभी उनके सामने ही सती हो गयी थीं (1911 ई.), पर वे चिता पर चीखती रहीं, लोग मार-मारकर उसी पर गिराते रहे। राय साहब ने इस प्रथा को मिटाने की ष्ठापथ ली। धार्मिक कट्टरता के खिलाफ उन्होंने पुस्तकें तैयार कीं। ष्ठिक्षा को उन्होंने सबके लिए उपयोगी बताया। वे अंग्रेजी ष्ठिक्षा के प्रष्ठांसक थे। उन्होंने ब्रह्मसमाज की स्थापना की। उन्होंने धर्म, ष्ठिक्षा और राजनीति के क्षेत्र में सराहनीय कार्य किये। उन्होंने विदेष्ठा यात्राएँ कीं। जीवन के अन्तिम 3 वर्षों में वे इंग्लैण्ड में ही रहे।

उन्होंने छोटे-छोटे धार्मिक गुटों का संगठन करने के लिए जो सिद्धान्त ब्रह्मसमाज के द्वारा भारत में फैलाया - वह उनके धार्मिक सुधारों का उत्तम उदाहरण है।

राजा राममोहन राय के कार्यों को महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर ने आगे बढ़ाया। अपने समय के वे अच्छे राष्ट्रवादी थे। वे प्रथम भारतीय थे - जिन्होंने उद्योग की ओर ध्यान आकर्षित किया। इसके साथ उन्होंने बताया कि ईष्ठवर प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान है। प्राचीन संस्कृति का भी उन पर प्रभाव पड़ा। उन्होंने विचार दिया कि वेदों का ज्ञान वास्तविक रूप में प्राप्त करना अति आवष्यक है। उन्होंने हिन्दू-समाज-सुधार के अनेक कार्य किये। समाज की मौलिक त्रुटियों की उन्होंने कड़ी आलोचना की। बहुविवाह का विरोध और विधवा तथा स्त्रियों की षिक्षा का उन्होंने समर्थन किया।

देवेन्द्रनाथ के बाद केष्ठावचन्द्र सेन ने ब्रह्मसमाज का संचालन किया। अनेक लोगों को उन्होंने इस कार्य के लिए प्रेरणा दी। उनके दिये गये सुझावों का सरकार ने बड़ा सम्मान किया। उन्होंने इंग्लैण्ड की यात्रा की और दुनिया को समझाने का प्रयास किया, अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन किया।

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने समाज की कट्टरता का विरोध किया। मानवता को उन्होंने उच्च स्थान दिया। टैगोर परिवार ने आधुनिक भारत को बहुत कुछ दिया है। देष्ठा-विदेष्ठा भ्रमण करने के उपरान्त टैगोर ने अपने व्यापक विचारों को क्रमबद्ध किया। 1877 ई. में उनकी एक कविता प्रकाषित हुई 'भानुसिंह' - जिसमें उन्होंने प्राचीन वैष्णव कवियों की षैली को नवीन ढंग से प्रस्तुत किया। 20 वर्ष की अवस्था में उन्होंने आत्मिक षक्ति का अध्ययन किया - जिसका उनके जीवन पर प्रभाव पड़ा। उन्होंने समाज-सुधार और जागरण के लिए अपने साहित्य को माध्यम बनाया और वे भारतीय पुनर्जागरण के एक महान नेता हो गये। उन्होंने भारतीयों में नये भावों को उत्पन्न करने के लिए उपनिषद् के अतिरिक्त भारत की प्राचीन संस्कृति पर वक्तव्य दिये। उन्होंने मराठों, सिख तथा राजपूतों की वीरता तथा आत्मविष्वास को उभारा। उन्होंने अपना अधिकांष समय षान्तिनिकेतन में गुजारा और आत्मा तथा प्रकृति के समन्वय का कार्य किया। वे सौन्दर्य के अत्यन्त उपासक थे - जो सतत और क्षण-क्षण में परिवर्तित होता रहता है। बंग-भंग की गलत नीति से बंगाल में स्वदेषी आन्दोलन प्रारम्भ हो गया। रवीन्द्रनाथ पर भी उसका प्रभाव पड़ा। उन्होंने विभाजन के विरुद्ध कदम उठाया। षिक्षा में उन्होंने राष्ट्रीयता को जोड़ा। 1911 ई. में वे अपने एकान्तवास को छोड़कर समाज में आ पड़े। उन्होंने विष्व को दृष्टि में रखकर भारत में कार्य किया और अपना साहित्य रचा। गाँधी को वे महत्त्व देते थे, पर एक सीमा तक ही। वे गाँधी की सभी नीतियों के पक्षधर नहीं थे। वे मानवतावाद के समर्थक थे।

19वीं षताब्दी के प्रारम्भ में अंग्रेजों के माध्यम से पष्चिमी विज्ञान और साहित्य तथा अंग्रेजी भाषा को अनिवार्य कर देने से पष्चिमी संस्कृति का खूब प्रचार-प्रसार हुआ और लोग ईसाई बनने

लगे। एक तरह से धार्मिक उथल-पुथल मच गया। इसी समय क्रान्तिकारी संन्यासी स्वामी दयानन्द सरस्वती सामने आये। उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना कर पाखण्ड खण्डिनी पताका फहरायी, पौराणिक तथा सामाजिक ढोंगों को चुनौती दी। वेदों को प्रमाण मानकर उन्होंने सनातन को अधुनातन रूप दिया। उन्होंने बताया कि सच्चे भारतीय ही विष्ठव के आदर्ष्ठा पुरुष हैं। आर्यों की श्रेष्ठता को उन्होंने प्रमाणित किया। वेदों की प्रासंगिकता को उन्होंने सिद्ध किया। भारतीय नवजागरण में आर्यसमाज का बहुत बड़ा योगदान है। 24 जून 1877 ई. को लाहौर में उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की। वे मूर्तिपूजा का खण्डन करके वेदों का उपदेष्ठा देते थे। स्वामी जी ने सिद्धान्तों को व्यवहार रूप दिया। धर्म को जीवन से जोड़कर उसको मंगलकारी बनाया। उन्होंने आदर्ष्ठा आचार संहिता की रचना की। अतीत और वर्तमान को उन्होंने जोड़ा।

स्वामी रामकष्ण परमहंस ने एक सात्त्विक जीवन के साथ रामभक्ति को वरीयता दी। सत्संगति में वे सदा रुचि लेते थे। वे ईष्ठवरचन्द्र विद्यासागर की संगति में विष्ठोष रहा करते थे। आगे चलकर वे काली और कष्ण के भी भक्त हुए। काली का उनमें भावावेष्ठा हो जाया करता था। आद्याष्ठाक्ति को उन्होंने वर्तमान में लाकर देखा। उन्होंने आत्मिक साधना से सब कुछ प्राप्त करने का सफल प्रयास किया। उन्होंने अनेक महाष्ठाक्तियों का साक्षात्कार किया। समस्त कार्यों को उन्होंने ईष्ठवरीय मार्ग बताया। उन्होंने 'रचनात्मक धर्मों' का उद्धार किया, सभी धर्मों की विभूतियों का दर्ष्ठान किया। अनेक भिक्षु संन्यासी आदि उनसे आत्मिक प्रेरणा लेने आया करते थे। रामकष्ण को अपनी स्त्री में भी देवी का रूप मिलता था। उनके प्रेम में वासना की गन्ध न थी, आध्यात्मिक प्रेम था। उन्होंने अपने ष्ठिष्य विवेकानन्द से स्पष्ट ष्ठाब्दों में कहा कि प्रत्येक जीव में ष्ठिव है, प्रत्येक जीव स्वयं परमात्मा है - जो भिन्न रूपों तथा नामों में है। जो मानव से प्रेम करता है या उसकी सेवा करता है - वह ईष्ठवर का अनुभव कर सकता है। उस समय के बड़े-बड़े लोग माइकेल, मधुसूदन दत्त, बंकिमचन्द्र चटर्जी, पं. ईष्ठवरचन्द्र विद्यासागर, महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर आदि उनसे मिलने के लिए आते थे। केष्ठावचन्द्र उनके बड़े आत्मीय थे। रामकष्ण परमहंस कहा करते थे कि अपने रास्ते पर ष्ठान्तिपूर्वक चलनेवाला व्यक्ति ईष्ठवर को प्राप्त कर सकता है। सत्य और धर्म को उन्होंने जीवन का लक्ष्य बताया। सम्पूर्ण अध्यात्मवाद में उनका विष्ठवास था। इसके साथ उन्होंने अध्यात्मवाद की नवीन विधियाँ ज्ञात कीं। वे सदा नैतिकता के मार्ग पर चलते थे। उन्होंने हिन्दू धर्म का पुनरुद्धार किया। उनकी प्रष्ठांसा विदेष्ठी भी करते थे। गष्हस्थ जीवन के साथ ही उन्होंने सभी उपलब्धियों को प्राप्त किया। उन्होंने मानव ष्ठाक्ति को बहुत ऊपर उठा दिया। अनेक नये मार्गों को उन्होंने प्रस्तुत किया।

रामकष्ण परमहंस के ष्ठिष्य स्वामी विवेकानन्द थे। उन्होंने मानव सेवा के लिए अपने जीवन का बलिदान कर दिया। उन्होंने बताया कि आदर्ष्ठावादिता से कुछ नहीं होगा। रामकष्ण ने उनकी

आत्मिक शक्ति को जागृत किया। उन्होंने संसार को त्यागने का निर्णय लिया। तीर्थाटन से उनकी आध्यात्मिक शक्ति दृढ़ हुई। उन्होंने मानव मात्र की सेवा का व्रत लिया। ध्यानमग्न होकर उन्होंने देखा कि पूरा राष्ट्र गहरी निद्रा में मस्त है। उन्होंने विचार किया कि आत्मिक चेतना से सम्पूर्ण राष्ट्र अपने पैर पर खड़ा हो सकता है। उनका विश्वास था कि अगर हिन्दुओं को अपने प्राचीन महत्त्व को उच्च स्थान पर लाना है, तो हिन्दू धर्म के विचारों को प्रबल गति से आगे बढ़ाना चाहिए। शिकागो जाते समय उनको चीन और जापान में भारतीय संस्कृति और आध्यात्मिक विचार मिले थे। इसके साथ उनको भारतीय दरिद्रता का भी वहाँ बोध हुआ। 11 सितम्बर 1893 ई. को धार्मिक सभा (शिकागो) का प्रथम अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। उन्होंने अपना वक्तव्य प्रारम्भ किया– "अमरीकी भाइयों तथा बहिनों!" इस सम्बोधन से लोग बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने एकेश्वरवाद और उसके विविध रूपों पर व्याख्यान दिया। 21 सितम्बर तक धार्मिक सभा का अधिवेशन चला और उनके 10–12 भाषण हुए। हिन्दू धर्म के उच्च विचार और आदर्श तथा वेदों की शिक्षा सम्बन्धी बातों का उन्होंने वर्णन किया। अमेरिका के समाचार पत्र 'The New York Herald' ने उनके सम्बन्ध में लिखा– "स्वामी विवेकानन्द विश्व धार्मिक सभा में सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति थे और उनका भाषण सुनने के बाद हम यह अनुभव करते हैं कि पूर्व का ज्ञान सर्वश्रेष्ठ है, परन्तु फिर भी हम विदेशों में अपने धार्मिक दूतों को भेजते हैं।" उनके अन्य भाषण भी हुए। वे इंग्लैण्ड भी गये और भाषण दिये। 1896 ई. में उन्होंने न्यूयार्क में 'वेदान्त सोसायटी' की स्थापना की। उन्होंने धर्म को आत्मा से सम्बद्ध बताया। उन्होंने अपने एक भाषण में कहा– "मैं सब धर्मों को मानता हूँ – जो भूतकाल में हुए हैं, उन सब की उपासना भी मैं करता हूँ। मैं प्रत्येक के साथ ईश्वर की उपासना करता हूँ.....।" इस प्रकार उन्होंने सर्वव्यापक धर्म का प्रचार किया। उन्होंने असमानता, शोषण और छुआछूत पर भाषण दिया। उनके सामने देशा की पुरानी और नयी सम्पदाएँ आयीं। उन्होंने निडरतापूर्वक अपनी गलतियों को स्वीकार करने के लिए कहा, साथ ही हिन्दू धर्म के उच्च आदर्शों को प्रयोग में लाने के लिए कहा। उन्होंने विश्वास के साथ बताया कि भारत की सबसे महान शक्ति यहाँ का धार्मिक जीवन है। हम आत्मिक शक्ति के साथ ही सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन को ठीक बना सकते हैं। जीवों की सेवा से ही समाज का उत्थान होगा। नयी चेतना आयेगी। जब तक लाखों मनुष्य पीड़ित हैं, तब तक हर आदमी दोषी है। सर्वप्रथम आत्मा का सुधार होना चाहिए। उन्होंने 1897 ई. में 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना की। स्वामी रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म का सांस्कृतिक पुनरोत्थान किया। प्राचीन संस्कृति के प्रति लोगों में सम्मान का भाव उत्पन्न किया। स्वामी दयानन्द सरस्वती के आदर्शों पर अनेक गुरुकुल खुले, रवीन्द्रनाथ टैगोर और महामना मदन मोहन मालवीय की भारत के पुनरुद्धार को बड़ी देन है। इन सबसे देशा में राष्ट्रभक्ति और बन्धुत्व की भावना का विकास हुआ। इसको राजनीतिक रूप देते हुए गाँधीजी ने आगे बढ़ाया। साहित्यकारों ने भी इसमें हाथ बँटाया। इसी 20वीं शताब्दी में विज्ञान की अनेक खोजें की गयीं।

जगदीष्ठा चन्द्र बोस, मेघनाथ ष्ठााह तथा सी.वी. रमन ने इस क्षेत्र में स्मरणीय कार्य किये।

महात्मा गाँधी (1869-1948 ई.) ने भारतीय स्वतंत्रता और अखण्डता के लिए अपना जीवन बलिदान कर दिया। देष्ठा के राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में उन्होंने स्मरणीय कार्य किये। उन्होंने वैष्णव, जैन और देष्ठाभक्ति तथा सत्य-अहिंसा को सम्बल बनाकर कार्य किया। जस्टिस रानाडे, गोखले और तिलक के कार्यों को उन्होंने आगे बढ़ाया। उन्होंने सत्य और अहिंसा को अपना ष्ठास्त्र बनाया। सामाजिक उन्नति के लिए उन्होंने सामाजिक, व्यक्तिगत सुधार तथा स्वातंत्र्य भाव को आवष्ठयक बताया। 1919 ई. में मान्टेस्क्यू चेम्प फोर्ड के सुधारों की अपेक्षा की तथा अपने आन्दोलन के कार्यक्रम में चार बातों का समावेष्ठा किया-

(1) ऑनरेरी पद तथा पदवियों को त्याग दिया जाय।

(2) सरकारी की नौकरियाँ छोड़ने पर बल दिया जाय।

(3) सरकार को टैक्स न देने के लिए जनता को बाध्य किया जाय।

(4) भारतीय पुलिस तथा सेना को सरकार की सहायता न करने को कहा जाय और भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलनों में जनता का सहयोग प्राप्त किया जाय।

इस प्रकार अहिंसा, सत्य और असहयोग के सिद्धान्त पर आन्दोलन प्रारम्भ किया गया। यह युद्ध का परिवर्तित रूप सामने आया। लोगों में एक नया विष्ठवास जगा। गाँधीजी के विविध कार्यक्रम चलते रहे - जिनमें मुख्य हैं- नमक आन्दोलन, दाण्डी यात्रा, खादी आन्दोलन, विदेष्ठा वस्त्र त्याग, अछूताद्धार, हरिजन कल्याण, ष्ठिाक्षा प्रसार आदि। उनके आर्थिक और सामाजिक सुधार के कार्यक्रमों को बड़ी लोकप्रियता मिली। लोगों ने साथ दिया और जेल गये। विदेष्ठी और देष्ठी दोनों सत्ता-तंत्रों का विरोध किया गया। द्वितीय विष्ठवयुद्ध के समझौते को जब अंग्रेजों ने नहीं माना, तो 9 अगस्त 1942 ई. में 'भारत छोड़ो' (Quit India) आन्दोलन ष्ठारू कर दिया - जिसमें आन्दोलन ष्ठारू होने से पूर्व ही गाँधी तथा अन्य नेताओं को जेल में बन्द कर दिया गया। देष्ठा में अव्यवस्था, हिंसा, आगजनी और तोड़-फोड़ की दुर्घटनाएँ हुईं। जनता ने अपना उग्र रूप धारण कर लिया। गाँधीजी ने इसको पसन्द नहीं किया।

1945 ई. में इंग्लैण्ड, रूस, अमेरिका, फ्रांस आदि ष्ठाक्तियों ने मिलकर हिटलर, मुसोलिनी तथा हिरोहिट आदि प्रतिक्रियावादियों को परास्त कर दिया। इस प्रकार एक नये युग का प्रारम्भ हुआ। भारतीयों में भी स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए लहर दौड़ पड़ी। भारतीय जल, थल तथा वायु सेना ने अंग्रेजी पदाधिकारियों के दुर्व्यवहार के प्रति विद्रोह कर दिया। आम जनता ने इसका साथ दिया। इस पर इटली ने लन्दन रेडियो से भाषण दिया कि भारत को हम ष्ठाीघ्र छोड़ देना चाहते हैं। इसके उपरान्त साम्प्रदायिक दंगे हुए और 15 अगस्त 1947 ई. को पाकिस्तान बना। देष्ठा आजाद हुआ, पर खण्डित

होकर। 30 जनवरी 1948 ई. को गाँधीजी की हत्या भी हुई। अहिंसा के पुजारी को हिंसा का शिकार बनना पड़ा। गाँधीजी एक ऐसा राज्य चाहते थे जिसमें सत्य, न्याय, अहिंसा, शान्ति तथा मैत्री हो। मनुष्य धर्म का आचरण करे, साथ ही आध्यात्मिक शक्ति का उच्च आदर्श हो - जिसमें मनुष्य मात्र जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सके।[1] गाँधीजी धर्म और राजनीति में समन्वय करना चाहते थे - जो नहीं हो सका। उन्होंने अपने रामराज्य के सम्बन्ध में लिखा है- "मेरा राम आकाश में निवास नहीं करता, बल्कि इस पृथ्वी पर ही हमें उसको प्राप्त करना है। वह प्रत्येक मनुष्य में स्थित है तथा सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान है, यदि हम अपने कर्तव्यों का पालन यहाँ कर सकें तो हमें दूसरे संसार की लेशमात्र भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए।"[2]

पं. मदन मोहन मालवीय राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेते हुए सनातन धर्म की रक्षा करते रहे। भारतीय धर्म, दर्शन, संस्कृति के विकास के साथ वे ज्ञान-विज्ञान की नव्य उपलब्धियों से भी जोड़ना चाहते थे। वे सनातन और अधुनातन के सच्चे पारखी थे। राष्ट्रीय आन्दोलन में कार्य करते हुए उन्होंने अपने सम्पूर्ण विचारों को व्यावहारिक रूप देने के लिए वसन्त पंचमी 1916 ई. को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की। उन्होंने हिन्दू विश्वविद्यालय में प्राच्य भारतीय आधुनिक विषयों के विभाग स्थापित किये। उन्होंने भारतीयता के संरक्षण का ध्यान रखा। पुरातत्त्व, संगीत, क्रीड़ा, जनन अभियांत्रिकी, विज्ञान, वाणिज्य, कला, संस्कृति, मानविकी, कृषि, तकनीकी, सूचना प्रौद्योगिकी, चिकित्सा, उड्डयन, तैराकी, पहलवानी, साहित्य, भाषा-विज्ञान, ललित कला आदि विभागों को खोलकर समाज को अतीत और आधुनिकता से जोड़ा। इसके साथ विश्वविद्यालय प्रांगण में ही बाबा विश्वनाथ के भव्य मन्दिर का निर्माण कर जनमानस को उन्होंने ज्ञान-विज्ञान के साथ धर्म से भी जोड़ा। वे राष्ट्रीय व्यवस्था को धर्मप्रधान बनाना चाहते थे। राष्ट्रीय आन्दोलन, समाज-सुधार, धर्म प्रचार और शिक्षा-प्रसार के लिए वे जीवन के अन्तिम क्षण तक प्रयत्नशील रहे।

पूज्य महन्त दिग्विजयनाथ ने राष्ट्रीय आन्दोलन, शिक्षा, समाज-सुधार और हिन्दुत्व के लिए स्मरणीय कार्य किये। गोरक्षनाथ के चरणों में उन्होंने हिन्दू राष्ट्र की संकल्पना करके अपने जीवन को सक्रिय रखा। भारतीयता उनके रोम-रोम में थी। अपने संकल्पों की पूर्ति के लिए उन्होंने गोरक्षपीठ (गोरखपुर) के माध्यम से अपनी स्वस्थ परम्परा चलायी।

सर सैयद अहमद खाँ ने हिन्दू-मुस्लिम एकता पर बल दिया। उन्होंने अन्धविश्वासों से ऊपर उठकर राष्ट्र सेवा के लिए उत्साहित किया। इस्लाम के व्यावहारिक रूप को उन्होंने प्रस्तुत किया। सर सैयद खाँ अलीगढ़ के अपने स्कूल में चार प्रकार के शिक्षित वर्ग उत्पन्न करना चाहते थे, जो ये हैं-

(1) वे जो अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त कर सरकारी पदों पर आरूढ़ हों।

(2) वे जो अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त कर पश्चिमी पुस्तकों का उर्दू में अनुवाद कर सकें।

(3) वे जो उर्दू में शिक्षा प्राप्त कर पूर्ण योग्यता प्राप्त करें।

(4) वे जो अरबी, फारसी में योग्यता प्राप्त करें ताकि मुसलमानों के प्राचीन आर्थिक तथा सांस्कृतिक बातों को एक नवीन ढंग से मुसलमानों के समक्ष प्रस्तुत कर सकें।

सैयद साहब की बहुत बड़ी देन है कि उन्होंने मुसलमानों को धार्मिक और साम्प्रदायिक रूढ़ियों से निकालकर राष्ट्रीय और शैक्षणिक धारा से जोड़ा। धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों को उन्होंने आधुनिक या परिवर्तित करके सर्वसमक्ष किया।

अंग्रेजों को अपने विकास कार्यों (रेल, तार, डाक, प्रेस, शिक्षा, पत्रकारिता) के लिए लोकप्रियता मिली, पर वह राष्ट्रीय भावना को दबा न सकी। राष्ट्रीय आन्दोलन चलते रहे। सबने मिलकर 'अंग्रेजों भारत छोड़ो' का नारा लगाया और अंग्रजों को भारत छोड़ना पड़ा।

आज अंग्रेज नहीं हैं, हम स्वतंत्र हैं, राजनीतिक दृष्टि से स्वतंत्र हैं, पर अनेक मुद्दों पर हम पराधीन हैं। विश्व में हमारी आर्थिक छवि नहीं बन पा रही है, जिस नवीनता के लिए हम संघर्ष कर रहे थे – वह न आ सकी और घोटालों का देश हो गया। हमारी सततता में परिवर्तन हुए, पर उस रूप में नहीं हुए – जिस रूप में होना चाहिए था। भारतीय सततता में जिस प्रकार के पावन–परिवर्तन की आवश्यकता थी – वह न हो सकी, पर अनेक बुराइयों का समापन हुआ है।

सन्दर्भः

1. D.G. Tendulkar : "Mahatma", Vol. VIII, Page 178 and 229.
2. D.G. Tendulkar : Ibid, Page 476, Page 34.

हमारे बुद्धिजीवी : तब और अब

विजय कुमार*
शंकर शरण**

> भारतीय लेखकों में नकल की, यूरोपीय विचारों, संस्थाओं को श्रेष्ठ समझने और अपनी हर विरासत को तुच्छ मानने की भावना है। यह भारत की विशेष बीमारी है जहाँ पिछले हजार साल से अपना, देसी उच्च वर्ग नहीं रहा है। जहाँ बाहरी लोग आते रहे और ऊँचे स्थानों पर ही रहे। नीचे भारतीय उनकी नकल कर अपने को बचाते रहे या अपनी हीनता छिपाते रहे। कभी वे मुगलों की नकल करते थे, कभी अंग्रेजों की, कभी रूसियों की, कभी चीनियों की। आज वे अमरीकियों की नकल कर रहे हैं। (*वी.एस. नायपॉल*)

सुप्रसिद्ध अंग्रजी मासिक 'सेमिनार' की संस्थापक राज थापर ने अपनी डायरी से संकलित कर एक संस्मरणात्मक पुस्तक तैयार की थी। जो उनके निधन के बाद *ऑल दीज इयर्स* (1991) शीर्षक से प्रकाशित हुई। सन् 1943 से 1984 तक चार दशकों तक सक्रिय एक सहृदय बौद्धिक हस्ती के विपुल अनुभवों से भरी यह एक मूल्यवान पुस्तक है। इससे भारतीय नेताओं, बुद्धिजीवियों और शासन की अंतरंग तस्वीर देखने को मिलती है। राज और उनके पति रोमेश थापर इन्दिरा गाँधी के प्रधानमंत्रित्व के आरम्भिक आठ वर्षों, इमरजेंसी लगने तक उनके निकट मित्र और सलाहकार थे। वस्तुतः इन्दिराजी के साथ बराबरी से वैयक्तिक व्यवहार रखने वाले मात्र यह दो ही थे। यही बाद में उनके बीच दूरी का भी एक कारण बना। यद्यपि इन्दिराजी उन्हें निकट रखना चाहती थीं, किन्तु बराबरी उन्हें स्वीकार्य न थी।

राज और रोमेश ने राष्ट्रीय जीवन के एक गम्भीर दौर में सक्रिय हिस्सा लिया था। सौभाग्यवश उन दोनों ने कभी अपनी बौद्धिक, भावनात्मक ईमानदारी, मानवीयता व सहज बुद्धि-विवेक को कभी न छोड़ा। इसीलिए वे उन विराट अन्तर्विरोधों, मिथ्याचार और कारनामों को उपेक्षित न कर सके जो उन्हें अनायास दिखती थी। *ऑल दीज इयर्स* में 22 से 24वाँ अध्याय (पृष्ठ 404-451) इमरजेंसी काल सम्बन्धित है। इसमें अनेक बुद्धिजीवियों के प्रसंग हैं, जिनसे देश की बौद्धिक वस्तुस्थिति को समझने में मदद मिलती है। इन्दिरा गाँधी के दोहरेपन, आत्मकेन्द्रित राजनीतिक शैली और इमरजेंसी की मनमानियाँ देखने के बाद थापर ने कटु आलोचक की भूमिका

---

*

अपनायी। इसके लिए उन्हें आपातकाल में 'सेमिनार' को बन्द भी करना पड़ा।

इमरजेंसी के अनुभव ने पुष्टि की कि हमारे प्रभावी बुद्धिजीवियों में, विष्ठोषकर जो सत्ता और सुविधा के निकट रहते हैं, चापलूस, डरपोक, स्वार्थी, जीवन से कटे लोगों की भरमार रही है। वामपन्थी बुद्धिजीवियों में एक अतिरिक्त विष्ठोषता यह थी कि वे भिन्न मत वालों का किसी भी प्रकार दमन करना अपना अधिकार समझते थे। अन्य लोग जो लोकतंत्र और न्याय जैसे मूल्यों की बढ़-चढ़कर बात करते थे, समय आने पर इसके लिए तनिक भी कष्ट उठाने से कतरा गये। आम लोगों ने ही धीरे-धीरे देष्ठा के विभिन्न कोने से इमरजेंसी के खिलाफ आवाज उठायी और अन्ततः उस ष्ठासन को उखाड़ फेंका। तब बड़े-बड़े सम्पादकों, अंग्रेजीपरस्त बुद्धिजीवियों, मार्क्सवादी प्रोफेसरों की भूमिका चुपचाप रहकर हवा का रुख देखकर काम करने की थी। यह स्थिति आज भी नहीं बदली है।

संजय गाँधी इमरजेंसी से पहले ही काफी कुख्यात हो चुके थे। जब उन्होंने बुद्धिजीवियों को चेतावनी दी कि वे वैचारिक विवाद न करें, तो अनेक बड़े बुद्धिजीवी पहले से ही मौन हो गये थे। जिस दिन इमरजेंसी लगी, उसके दूसरे दिन दिल्ली के दर्जन भर समाचारपत्रों में केवल दो में इसकी रिपोर्ट छपी थी। उस पूरे दौर में कई कुलपतियों, उद्योगपतियों और बुद्धिजीवियों ने संजय गाँधी की वाह-वाही करने में कोई कमी न रखी। जब अनेकानेक अध्यापकों, लेखकों, पत्रकारों और लगभग सभी विपक्षी नेताओं को जेल में डाल दिया गया तो खुष्ठावन्त सिंह ने कहा था कि देष्ठा 'प्रगति के पथ' पर है।

यह कहने में वे अकेले न थे। दिल्ली विष्ठवविद्यालय के मार्क्सवादी प्रोफेसर खुष्ठी से फूले नहीं समा रहे थे कि वहाँ का संस्कष्ठ विभाग बन्द होने के कगार पर है, क्योंकि अधिकांष्ठा अध्यापकों को जेल भेज दिया गया था। ये वही प्रोफेसर थे जिन्हें 'एमिनेण्ट हिस्टोरियन्स' में गिना जाता था, और जो हाल के वर्षों में बात-बात में 'फासिज्म-फासिज्म' चिल्लाते रहे हैं। उनकी वास्तविकता यह है कि वे सदैव कहते कुछ हैं, वास्तव में इरादे कुछ और रखते हैं। 1975-76 में उनका असल मन्तव्य था, देष्ठा पर सोवियत किस्म की कम्युनिस्ट तानाष्ठाही लाद देना। तब के प्रखर बौद्धिकों में एक, कम्युनिस्ट नेता मोहित सेन ने कहा भी था, "अब हम इतिहास के विषय नहीं, उसके कर्ता बन गये हैं। अब हम इतिहास रचेंगे।" लोगों पर जबर्दस्ती व धोखाधड़ी का प्रयोग मार्क्सवादियों की चारित्रिक विष्ठोषता है, जो कभी नहीं छूटती। उनके ष्ठाब्द नहीं, कम्र पर ध्यान रखें तो इसके नित्य प्रमाण मिलेंगे।

तब बड़े-बड़े पदों पर स्थापित सम्पादकों, बुद्धिजीवियों की स्थिति यह थी कि 1977 के आरम्भ में चुनाव कराने की घोषणा होने के बाद जब सड़क पर, दुकानों में, गलियों में आम लोग - धोबी, चौकीदार, फल वाले, ड्राइवर, आदि खुले आम कहने लगे थे कि अब इन्दिरा गयी, हर

हाल में जायेगी। तब भी इन सम्पादकों को विश्वास न होता था। न वे ऐसी रिपोर्टें छापने का साहस करते थे। ऐसे बुद्धिजीवी रहे हैं हमारे - लोगों से कटे, सत्ता से डरे। जब इन्दिरा जी का पतन साधारण लोगों को सुनिश्चित दिख रहा था, और वे स्वयं वैसा करने का दावा कर रहे थे, तब भी ये सम्पन्न बुद्धिजीवी डरते थे। कुछ लिखने-बोलने ही नहीं, सोचने से भी!

इमरजेंसी के दौरान कुछ जाने-माने बुद्धिजीवियों के प्रसंग से कुछ और बातें समझी जा सकती हैं। उदाहरण के लिए, अबू अब्राहम दो भाषाओं में बोलते थे। एक भारतीय पत्र-पत्रिकाओं के लिए, दूसरी विदेशी पत्र-पत्रिकाओं के लिए। यह उन्होंने निर्लज्जतापूर्वक स्वीकार किया, जब रोमेश थापर ने चकित होकर उनसे पूछा कि इमरजेंसी के बारे में जो बात अब्राहम ने 'सेमिनार' में लिखी, उससे ठीक उलटी बात लन्दन से प्रकाशित 'गार्जियन' में लिखी थी! यह अब्राहम साहब हमारे सबसे बड़े कार्टूनिस्टों में एक थे।

अंग्रेजी दैनिक 'स्टेट्समैन' के मालिक खुसरो ईरानी ने अपने प्रिण्टिंग प्रेस से 'सेमिनार' को छापने से इन्कार कर दिया, जब तक उसे सेंसर से दिखा न लिया जाए। जबकि सम्पादकीय सामग्री की जिम्मेदारी उनकी कतई नहीं थी, वह तो केवल व्यावसायिक आधार पर 'सेमिनार' की प्रिण्टिंग करते थे। फिर भी इतनी भीरुता कि थापर से चौदह वर्षों के सम्बन्ध को उन्होंने ताक पर रख दिया। उन्हीं ईरानी साहब को पत्रकारिता के लिए अनेकानेक पुरस्कार प्राप्त हुए। यह हमारे प्रथम श्रेणी के पत्रकारों में एक थे। 'ब्लिट्ज' साप्ताहिक के सम्पादक आर.के. करंजिया तो इमरजेंसी से अत्यन्त भयभीत थे। उन्होंने इन्दिरा गाँधी से ईरान के तानाशाह शाह रजा पहलवी का अनुकरण करके देश में श्वेत क्रान्ति करने का अनुरोध किया था।

डॉ. कर्ण सिंह विद्वान और संस्कृतनिष्ठ हैं। विस्तृत पूजा-पाठ करने की उनकी साधारण हिन्दू आदतों के कारण उन्हें कम्युनिस्टों द्वारा 2007 के राष्ट्रपति चुनाव में कांग्रेस उम्मीदवार के रूप नकारा गया। दिलचस्प बात यह है कि 1967 में भी उनके 'प्रोनाउंस्ड' हिन्दू होने के कारण ही उन्हें इन्दिरा गाँधी ने मंत्री नहीं बनाया था। तब दोस्ती के कारण रोमेश थापर ने इन्दिरा गाँधी से कह-सुनकर उन्हें मंत्री बनवाया था। वही कर्ण सिंह इमरजेंसी लगने पर पहले जोश में आए, प्रतिवाद करने की सहमति दी, फिर रातों-रात बदल गए। थापर से पूरी तरह दूर हो गए। तब से आज तक उन्होंने जितनी कलाबाजियाँ खाईं, वह गिनती से बाहर है। संसद में एक सीट के लिए वे कोई भी काम कर सकते हैं। यह हमारे सबसे बड़े बौद्धिक हिन्दू बुद्धिजीवी नेताओं में एक हैं।

इसी तरह, चित्रकार एम.एफ. हुसेन 'दरबारी पेण्टर' थे। इन्दिरा जी के इमरजेंसी वाले बीस सूत्री कार्यक्रम के लिए बीस घोड़े दर्शाते हुए पेण्टिंगें बनाई थीं। बाद में भी हुसेन साहब वैसे ही रहे। तब समाजवाद यानी राजसत्ता का दरबार बड़ा था, आज बड़े-बड़े उद्योगपतियों, विदेशी दाताओं का है। जो उनकी रुचि, चाह या बिकाऊ सम्भावना हो, वैसी पेण्टिंग वह बनाते रहे। अभिव्यक्ति

स्वतंत्रता का तो यही है कि देष्ठा से बाहर छिपे बैठे गए, अपनी कुकष्टियों के लिए कोई तर्क नहीं दे सके। ध्यातव्य है कि उनके द्वारा बनायी गयी हिन्दू देवी-देवताओं की गन्दी, बेहूदी पेण्टिंगों के बचाव में जो तर्क दिये जाते हैं, वह यार-दोस्त देते थे, हुसेन नहीं। यह भी हमारे अग्रगण्य, अन्तर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि के कलाकार रहे।

संजय गाँधी हमारे प्रभावष्ठाली बुद्धिजीवियों के बारे में बोलते थे, "उन्हें जितना जोर से ठोकर मारो, उतना वे तुम्हें आदर देंगे।" क्या यह सत्य नहीं है? जरा बदल कर देखें। जो जितनी ही वास्तविक खतरनाक ष्ठाक्ति है, उसके प्रति हमारे बुद्धिजीवी उतने ही सदय या मौन रहते हैं। श्रीलाल ष्ठुक्ल ने अपने प्रसिद्ध 'राग दरबारी' में एक थाने का प्रसंग लिखा है। सिपाहियों को किसी वारदात की जगह पर जाना था, "और चूँकि डाकुओं से मुठभेड़ नहीं होनी थी, इसलिए सिपाहियों ने बन्दूकें ले ली।" यह हमारे रेडिकल, लिबरल, सेक्यूलर बुद्धिजीवियों पर भी पूर्णतः लागू होता है। वे हर सुरक्षित मामले पर बहादुरी दिखा लेते हैं।

भारतीय संविधान में सबकी बराबरी सुनिष्ठिचत हो चुकी। तब 'सामाजिक न्याय' का गुल-गपाड़ा मचाया जाता है। किन्तु जहाँ वास्तविक, वैध भेद-भाव मौजूद है, वहाँ इससे लड़ने से कन्नी काटी जाती है। उदाहरण के लिए, आज भी मुस्लिम समाज में अनेक मध्ययुगीन क्रूर रिवाज, एक मर्द को चार औरतें रखने का अधिकार, औरतों को मनमाने तलाक देने का चलन, औरत की गवाही का मर्द से आधा मूल्य, उनके बुर्का न पहनने पर सजा, उलेमा के फतवों द्वारा किसी भी स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को मनमाने तोड़ना-जोड़ना, उनके बच्चों को मनमाने इधर से उधर सौंपना, इस्लामी देष्ठों में अभी भी चोरों के हाथ काट लेने, पत्थर से मार-मार कर हत्या करने, बलात्कार की ष्ठिकार स्त्री पर ही गवाह पेष्ठा करने की जिम्मेदारी और इसमें विफल होने पर उलटे पीड़िता को ही दुश्चरित्रता की सजा - ऐसी असंख्य बर्बर वर्तमान रीतियों, कानूनों पर हमारा कोई रेडिकल, वामपन्थी, लिबरल बुद्धिजीवी, मानवाधिकारवादी ष्ठोर मचाता नजर नहीं आता। क्या इसीलिए नहीं कि इन विषयों पर ष्ठोर मचाना खतरे को दावत देना है?

सबके सब इस्लामी पर्सनल लॉ चलने देने की आड़ में उलेमा के हाथों मुस्लिम महिलाओं की भयंकर दुर्दष्ठा पर चुप बैठे हैं। इस खरी-खरी बात को छिपकर, अर्थात् पूरी उदासीनता दिखाकर, हमारे स्वनामधन्य रेडिकल-वामपन्थी बुद्धिजीवी तथा मीडिया अपनी 'सामाजिक जिम्मेदारी' पूरी करता है। जो लोग साम्राज्यवाद, जाति-ष्ठोषण, सती, दलित, जेंडर आदि पर खूब भाषण देते हैं, वे मुस्लिम महिलाओं पर इस्लामी पर्सनल लॉ के जुल्मो-सितम पर क्यों चुप्पी साध लेते हैं? क्या इससे पुष्टि नहीं होती, कि जहाँ सचमुच का, वैध जुल्म हो रहा हो, जहाँ जुल्म अभी भी जारी हो, उससे लड़ने वाले नहीं मिलते? वहाँ उन्हें भय होने लगता है। ऐसे कतराने और भयभीत होने वाले लेखकों, बुद्धिजीवियों से क्या आष्ठा रखी जा सकती है?

वस्तुत: हिन्दू समाज की कमियों या तथाकथित कमियों, जैसे जातिगत ऊँच-नीच, अन्याय जैसी चीजों पर ष्ठोर-ष्ठाराबा इसलिए मचाया जाता है क्योंकि इसमें कोई खतरा नहीं। प्रथम, न तो यह वैसी बड़ी समस्या है, जैसी जान-बूझकर बढ़ा-चढ़ाकर और द्वेषपूर्वक बतायी जाती है। दूसरे, इसमें किसी तथाकथित उच्च-जातीय 'अन्यायी' या हिन्दू 'फासिस्ट' की तरफ से हिंसक प्रतिकार का भय नहीं है। उल्टे ऐसे ष्ठोर-ष्ठाराबा मचाने वालों को तरह-तरह की देसी-विदेष्ठी संस्थाओं की ओर से ईनाम और सम्मानों से नवाजा जाता है। कुछ पहले साहित्य अकादमी ने अंग्रेजी में अरुन्धती राय की जिस पुस्तक को पुरस्कार के योग्य 'साहित्य' माना, उसे पलट कर देखें तो पता चलेगा कि ऐसे ही सुरक्षित विषयों पर उग्र ष्ठोर-ष्ठाराबे, अज्ञान और अहंकार से लबालब भरी लफ्फाजी के अतिरिक्त कुछ नहीं है! किन्तु उसे पुरस्कार मिले हैं।

आज आपातकाल तो नहीं है। पर कुछ विषयों पर हमारे देष्ठा में हमारे देष्ठा में स्थायी इमरजेंसी लागू रही है। इमरजेंसी में श्रीमती गाँधी के बारे में प्रष्ठांसा के ष्ठाब्द ही कहे, छापे जा सकते थे। किन्तु सच यह है कि कुछ विषय ऐसे हैं, जिन पर हमारे देष्ठा में स्थायी इमरजेंसी लगी हुई है। संविधान, कानून, वैचारिक स्वतंत्रता, मानवीय विवेक सब कुछ को वहाँ इस्लामी दादाओं के अधीन रहना होता है। 'सेटैनिक वर्सेस' नामक पुस्तक पर विष्ठव में सबसे पहले भारत में प्रतिबन्ध लगा। जिन सैयद ष्ठाहाबुद्दीन ने उसकी माँग की, और सफल हुए, उन्होंने उस पुस्तक को देखा तक न था, पढ़ना तो दूर की बात। उन्होंने स्पष्ट कहा कि पढ़ने की जरूरत ही नहीं! बस उसे प्रतिबन्धित करो। क्योंकि एक मुस्लिम अयातुल्ला का यह फरमान है। आज भी यही स्थिति है। आप इस्लाम सम्बन्धी रूढ़ियों, परम्पराओं, महानुभावों, आदि की प्रष्ठांसा मात्र कर सकते हैं, आलोचना नहीं। क्या यह स्थायी इमरजेंसी नहीं? बात नितान्त स्पष्ट हो जाती है, जब ध्यान दें कि हिन्दू विषयों, परम्पराओं के बारे में स्थिति ठीक उलट है। इनके बारे में प्रष्ठांसा के ष्ठाब्द कहना लांछित होने को आमंत्रण देना है। तुरन्त आप 'साम्प्रदायिक' या इस या उस संगठन के एजेण्ट होने के आरोप से मढ़ दिये जाएँगे। इस स्थायी वैचारिक इमरजेंसी की परम्परा स्वतंत्र भारत में आरम्भ से ही बना दी गयी है। कम्युनिज्म अब खत्म हो चुका है। किन्तु जब तक वह खत्म नहीं हुआ था, उसके बारे में भी केवल प्रष्ठांसात्मक रहने की अनुमति थी। ऐसा बौद्धिक वातावरण विष्ठुद्ध जोर-जबर्दस्ती, लांछन, सेंसरष्ठिप और छल-प्रपंच से बनाया गया था। यह ऐतिहासिक तथ्य है।

हमारे सेक्यूलर-वामपन्थी बुद्धिजीवियों का दोहरापन भय और वैचारिक मतिष्ठून्यता दोनों से प्रेरित है। एक ही प्रकार के दो प्रसंगों, व्यक्तियों के लिए नितान्त विपरीत रुख। सलमान रुष्ठादी के पक्ष में चुप्पी, दीपा मेहता के पक्ष में ष्ठोर। राधा बाई चाल और बेस्ट बेकरी, एक जैसी घटना पर एकदम दोहरा रुख। इसी तरह फ्लेमिंग रोज की भर्त्सना जबकि एम.एफ. हुसेन का समर्थन। बाल ठाकरे की साधारण टीका-टिप्पणी से भी नाराजगी, जबकि मंत्रि-पद पर बैठे हाजी याकूब द्वारा किसी

की हत्या कर लाने के आह्वान की भी अनदेखी। दारा सिंह मरे, लेकिन मुहम्मद अफजल जिए। नरेन्द्र मोदी के ष्ठासन में एक बच्चे का अपहरण भी राज्य की दुर्गति का प्रामाणिक उदाहरण, जबकि फारुख अब्दुल्ला के राज में दर्जनों सामूहिक नरसंहारों से भी कोई उद्वेलन नहीं। पाकिस्तान, चीन, ईराक के लिए लोकतंत्र के कोई मायने नहीं। परवेज मुष्ठर्रफ, देंग सियाओ पिंग, सद्दाम हुसैन बड़े अच्छे, होष्ठियार, विष्ठवसनीय नेता; किन्तु जब नेपाल और राजा ज्ञानेन्द्र की बात हो, तब ओह! लोकतंत्र सर्वोपरि सिद्धान्त हो जाता है। कष्ठमीरी हिन्दू कोई चीज नहीं, पर गुजराती मुसलमान की प्रसन्नता सेक्यूलरिज्म की अपरिहार्य आवष्ठयकता। अरुन्धती राय का विक्षिप्त प्रलाप, हर गाली-गलौज भी बौद्धिक मौलिकता, किन्तु क्षमा कौल की मर्मभेदी प्रस्तुति भी जैसे बेकार की बात। अमर्त्यसेन मात्र अर्थष्ठास्त्री रहे, किन्तु नोबल मिलने के बाद वामपन्थी गुट से जुड़ते ही तुलनात्मक धर्मष्ठास्त्र, दवाइयों से लेकर इतिहास लेखन तक सब चीज के प्रामाणिक टीकाकार हो गये हैं। किन्तु सर वी. पी. नायपॉल दष्ठाकों से विभिन्न सभ्यताओं का प्रत्यक्ष अध्ययन, अवलोकन करने, लिखने के बावजूद कोई ज्ञानी नहीं, केवल 'एण्टी-मुस्लिम' हैं। वे किसी बिन्दु पर कोई प्रामाणिक हस्ती नहीं माने जा सकते। निर्लज्ज दोहरेपन की यह सूची अन्तहीन है, क्योंकि यह हमारे बौद्धिक परिदष्ठय में नित्य की बात है।

इस दोहरेपन के कारण ही हमारे देष्ठा में बड़ी-से-बड़ी गड़बड़ी और विपदा के बाद भी कोई सीख नहीं ली गयी। आज भी किसी भी गम्भीर विचार-विमर्ष्ठा से कतराने की प्रवष्ठि बनी हुई है। इस्लामी आतंकवाद हो, या कष्ठमीरी हिन्दुओं का विस्थापन, अथवा पर्दा-बुर्का पहनने न पहनने का मामला, या अवैध मिष्ठानरी गतिविधियाँ, ऐस बिन्दुओं पर लेखक, बुद्धिजीवी, प्रकाष्ठाक, सम्पादक बुरी तरह कतराते हैं। वस्तुतः किसी घटना, परिघटना से उनका कतराना इसका सबसे बड़ा प्रमाण बन गया है कि मामला किसी कड़वी सच्चाई का है।

बल्कि कुछ विषयों में स्थिति पहले से बुरी हो गयी है। अब देष्ठाभक्ति को मूल्य मानने से मना किया जा रहा है। 'ग्लोबल नागरिक' होने, संदिग्ध अन्तर्राष्ट्रीय एन.जी.ओ. से जुड़ने और अपने देष्ठा और अपनी सरकार की विदेष्ठों में निन्दा करके धन-यष्ठा पुरस्कार पाने का लोभ व प्रचलन बढ़ा है। पाकिस्तान और चीन को देष्ठा की धरती के अंष्ठा सौंप देने के लिए तरह-तरह के तर्क बढ़ाए जा रहे हैं। लोकतंत्र और जनवाद ऊपरी लफ्फाजियाँ हैं। वास्तव में जो जनता चाहती है, उसके ठीक विपरीत कामों की पैरोकारी वामपन्थी करते हैं। उदारता दिखाने के नाम पर हमें देष्ठा का और विखण्डन स्वीकार करने के लिए कहा जा रहा है। यह सब बिना वैचारिक नियंत्रण, देसी-विदेष्ठी, पष्ठिचमी, इस्लामी या मिष्ठानरी दबाव के नहीं हो रहा। जब बुद्धिजीवियों को आँख में ऊँगली देकर भी यह सब दिखाया जाता है, तब भी वे भागने, बचने का ही उपक्रम करते हैं। कुछ तो साफ झूठ बोलकर विदेष्ठियों या विखण्डनवादियों की सेवा में लगे हैं। जैस, परमाणु करार पर करन थापर।

इस विषय पर एक टीवी वार्ता में अरुण शौरी जैसी नितान्त संयत हस्ती ने करन थापर को सीधे मुँह पर कहा कि वह झूठ बोल रहे हैं और अमेरिकी स्थिति का बचाव कर रहे हैं। निश्चय ही करन महोदय हमारे ऐसे अकेले बुद्धिजीवी नहीं हैं।

सोवियत विखण्डन के बाद भारत में बढ़े आर्थिक उदारीकरण से कथित भूमण्डलीकरण का नारा तेज हुआ है। इसके साथ ही दिनों-दिन अंग्रेजी के वर्चस्व से हमारे उच्च वर्ग की आत्महीनता बढ़ी है। उसी के साथ-साथ उनकी अपने ही देश की जनता से दूरी भी बढ़ गयी है। ज्ञात-अज्ञात विदेशी अनुदान एजेन्सियों का जाल फैला है, जिस कारण असंख्य गैर सरकारी संगठनों (एन.जी. ओ.) की उत्पत्ति और व्यापक फैलाव हुआ है। इसमें चिन्ता की बात यह है कि अनेक ऐसे संगठन भारत के विरुद्ध विदेशी एजेण्डे के कार्यान्वयन का औजार बन गये हैं। यह एजेण्डा राजनीति, मीडिया, शिक्षा, प्रशासन, न्यायपालिका आदि सभी क्षेत्रों में विभिन्न विदेशी शक्तियों के अपने हितों, विचारों के प्रचार-प्रसार का है। राष्ट्रवादी राजनीति के बिखराव की स्थिति में लोकतंत्र और उदारीकरण का दुरुपयोग होता रहा है। सभी दलों में नेताओं की गुणवत्ता गिरते जाने से इस स्थिति को रोकना तो क्या, समझने वाले भी कम हैं।

यह ठीक है कि दूसरी प्रक्रिया भी चल रही है। राष्ट्रवादी चेतना भी कई विषयों में पहले से अधिक विकसित हुई है। सोलहवीं लोकसभा का चुनाव इसका संकेत है। किसी भी समाज में भविष्य के लिए सदैव कई तरह के संकेत रहते हैं। अपनी-अपनी तरह सबका विकास भी होता रहता है। किन्तु अन्ततः किस संकेत का वर्चस्व होगा, यह अनेक बातों पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए, सन् 1946, यहाँ तक कि 1947 के आरम्भ तक भी भारत में लगभग सभी प्रबुद्ध लोग विभाजन की माँग और पाकिस्तान बनने की सम्भावना को मजाक या राजनीतिक लोगों का 'खेल' ही समझते थे। यही कारण था कि पंजाब और बंगाल जैसे सबसे जागरूक, सशक्त प्रान्तों के लोगों ने इसके बारे में कभी सोचा तक न था कि वैसा निर्णय होने की स्थिति में वे क्या करेंगे.....और वे बेमौत मारे गये। उन्होंने अपने राष्ट्रीय नेताओं से धोखा खाया। यह निकट इतिहास का गम्भीरतम उदाहरण है, कि हमारे बुद्धिजीवियों की अधिकारपूर्ण टिप्पणियों और दावों पर भरोसा नहीं करना चाहिए। इसलिए सावधानी की आवश्यकता है। खुली आँखों से जो खतरनाक स्थिति पनपती दिखे, उसका तत्काल उपचार करना सीखना होगा। सेक्यूलरवादी, गाँधीवादी सदिच्छाओं, उपदेशों और आकलनों को गम्भीरता से लेना या उसके भरोसे रहना आत्मघाती है। और कुछ नहीं तो हमारे आज के सामान्य मार्गदर्शकों की स्थिति 1940-46 के काल से बेहतर तो नहीं ही कही जा सकती। यह समझना चाहिए आज हमारे देश के बड़े बौद्धिक माने जाने वाले लोग वैचारिक भीरुता तथा असंख्य विषयों में भारी अज्ञान व भ्रम के शिकार हैं। नेतृत्वकारी आंग्ल पत्रकारों में आमजनों व सम्पूर्ण देश के भवितव्य के प्रति विचित्र उदासीनता दिखती है। जैसा किसी विदेशी अवलोकनकर्ता ने सटीक

कहा है, हमारे प्रमुख पत्रकार भारत की छोटी-बड़ी घटनाओं के बारे में ऐसे रिपोर्टिंग करते हैं मानो किसी दूसरे देष्ठा के बारे में बता रहे हों। यह विलगाव घातक है, जिससे सामान्य देष्ठावासी किसी गम्भीर अवसर पर फिर धोखा खा सकते हैं। अत: जो लेखक, विचारक केवल सकारात्मक दिखने वाले 'ग्लोबल इण्डियन' या 'इण्डिया ष्ठाइनिंग' वाले सीमित प्रभाव वाले सूचकों पर ही अपना सारा विष्ठवास रखते हैं, तो यह बड़ी आष्ठाजनक स्थिति नहीं है।

यह स्वयं देखने-परखने की बात है कि हमारे देष्ठा के बुद्धिजीवियों में लिबरल, वामपन्थी और सेक्यूलर जमात का वर्चस्व है। इनका एक प्रभावष्ठाली तबका आतंकवाद का भी मूक-मौन सहयोगी हो चला है। तालिबान से लेकर अलकायदा, सद्दाम से लेकर अहमदीनेजाद, तथा गोधरा काण्ड से लेकर मुहम्मद अफजल तक की किसी न किसी प्रकार तरफदारी, पैरोकारी या 'रेष्ठानलाइजेष्ठान' का व्यावहारिक अर्थ इसके अतिरिक्त कुछ और नहीं है। अब तो आतंकवादियों को अपने बचाव का मुकदमा लड़ने में जनता के या सरकारी पैसे देने की बात भी नीति के रूप में प्रस्तुत की जाती है। मार्क्सवादी मुहावरे का सहारा लें तो हमारे देष्ठा के सेक्यूलर-वामपन्थ ने इस्लामी कट्टरपन्थ और आतंकवाद के साथ वर्गीय मोर्चा बना लिया है। यह लगभग वही स्थिति है जो 1940 वाले दष्ठाक में हमारे वामपन्थ की थी, जिसने मुस्लिम लीग को 'आत्मनिर्णय का अधिकार' जैसे अनेक बौद्धिक तर्क मुहैया कराकर देष्ठा के विखण्डन का सक्रिय समर्थन किया था।

हिन्दी लेखक और बुद्धिजीवी इनमें से अनेक बातें समझता भी है। किन्तु उसे स्वयं पर विष्ठवास नहीं है। भाषायी और वर्गीय स्थिति के कारण उसे निरन्तर अंग्रेजीदाँ बौद्धिकों द्वारा नीचा भी दिखाया जाता है। इससे उसका आत्मविष्ठवास और क्षीण होता है। मुकाबला करने के बजाय वह उनकी नकल करके मान्यता या आदर पाने का यत्न करता है। इसलिए खतरे और नकारात्मक संकेतों को देखकर भी कुछ विवष्ठा सा ही रहता है। उसमें इच्छा और साहस है, किन्तु नेतष्ठृत्व नहीं है। राष्ट्रवादी कहलाने वाले बुद्धिजीवी भी तुच्छ स्वार्थों के लिए झगड़ने में असली संघर्ष और कर्तव्य भूल जाते हैं। ऐसे में भारत का साधारण देसी व्यक्ति गोस्वामी तुलसीदास के ष्ठाब्दों में सोचता है : 'कित जाई, का करी?'

शिक्षक की शैक्षिक स्वतंत्रता

जमनालाल बायती*

शिक्षक को कक्षाध्यापन के समय कक्षागत में कितनी स्वतंत्रता है? यह प्रश्न कई बार पूछा जाता है। मान लीजिए, भूगोल विषय के कालांश में ताँबा खनिज का पाठ पढ़ाया जा रहा है। अध्यापन के समय बच्चे के मन में खेतड़ी ताँबा परियोजना के बारे में कई जिज्ञासाएँ उठीं। बच्चे के द्वारा प्रश्न पूछने पर शिक्षक को इस सम्बन्ध में उत्तर देना चाहिए या नहीं और यदि हाँ, तो किस सीमा तक?

खेतड़ी ताँबा परियोजना में कितने व्यक्ति किस-किस योग्यता वाले, किस प्रकार के अनुभव वाले रोजगार प्राप्त कर सकते हैं? रिक्त स्थानों के लिए इस आशय की विज्ञप्तियाँ समय-समय पर प्रकाशित होती रहती हैं। यदि शिक्षक के पास ऐसी सूचनाएँ तत्काल उपयोग के लिए हैं तो उनका उपयोग किया ही जाना चाहिए। पर यदि कोई बच्चा यह पूछ बैठे कि इस परियोजना में रोजगार प्राप्त कर लूँ तो जीवन में आगे चलकर रोजगार के क्षेत्र में सन्तोष व सफलता मिलेगी या नहीं? ऐसी स्थिति में शिक्षक क्या करे? उत्तर दे या न दे। उसकी स्थिति बड़ी असमंजसपूर्ण हो जाती है। स्पष्ट है कि इस स्थिति का हर शिक्षक सामना करने को तत्पर नहीं होता है। शिक्षक बच्चों की मनोवृत्ति का अध्ययन करता है, निर्देशन की तकनीक जानता है एवं इस क्षेत्र में उच्च प्रशिक्षण प्राप्त है, बाल-मनोविज्ञान का ज्ञाता है, साधनों तथा अन्य विधियों से बच्चों को सलाह-मशविरा देते-देते दक्ष हो गया है तो वह प्राप्त ज्ञान व तकनीक का उपयोग कर बच्चों का स्तर निश्चित कर सकता है, बच्चों की उस क्षेत्र में सफलता का अनुमान लगा सकता है। बच्चों को सलाह-मशविरा के द्वारा शिक्षक सफलता की सम्भावना ही बता सकता है, श्रुत-प्रतिश्रुत रूप से सफलता या असफलता की भविष्यवाणी नहीं करेगा। पर आज स्थिति यह है कि हर शिक्षक न तो रुचि या अभिरुचि परीक्षण दे सकता है, न बुद्धि-लब्धि ज्ञात कर सकता है तथा न ही वह निर्देशन तकनीक में विशेषज्ञ होता है। ऐसी स्थिति में उसे चुप रहना चाहिए। यदि शिक्षक किसी भी बच्चे के लिए आवश्यक बुद्धि-स्तर का पता नहीं लगा सकता, बच्चे की माली हालत नहीं जानता, प्रवेश के लिए न्यूनतम शैक्षिक योग्यता का ज्ञान नहीं है, व्यक्तित्व के लक्षणों का सही अनुमान नहीं लगा सकता, किसी

---

*

विशिष्ट तकनीक की बाजार में माँग व पूर्ति का ज्ञान नहीं है तो उसे तटस्थ ही रहना चाहिए। जितनी सूचनाएँ उसके पास हों, वह वस्तुनिष्ठ रूप से बिना घटाए-बढ़ाए बच्चों को दे दे तथा शोध के लिए उसे विशेषज्ञ के पास भेज देना ही श्रेयस्कर होगा। अपनी विशेषज्ञता के क्षेत्र से बाहर न तो शिक्षक को बोलना चाहिए तथा न ही शैक्षिक स्वतंत्रता का सहारा लेकर उसे ऐसा करने का अधिकार दिया जाना चाहिए।

इस उदाहरण से जरा दूर हटकर सोचें। कुछ उदाहरण ऐसे हो सकते हैं जिनका शिक्षण निरापद नहीं है। विषय का प्रस्तुतीकरण सम्भव है, शिक्षक एकांगी रूप में कर दें जो शैक्षिक दृष्टि से वांछनीय न हो, ऐसा करने से बालकों को लाभ के स्थान पर हानि होने की सम्भावना रहती है। ऐसे चर्चित विषय पर शिक्षक द्वारा ऐसे विचार कक्षा में व्यक्त कर देना जो समाज को स्वीकार्य नहीं है या स्वयं शिक्षक के कार्य तथा व्यवहार में अन्तर है या उन विचारों को बच्चे पसन्द नहीं करते हैं या शिक्षक की उन विचारों के प्रति आस्था नहीं है तो ऐसे विचार विद्यार्थियों की हानि कर सकते हैं। यह प्रजातांत्रिक तरीका नहीं है कि बच्चों को चिन्तन, तर्क करने, अनुमान लगाने या तथ्यों के प्रस्तुतीकरण करने, निर्णय लेने से रोक दिया जाये। यदि शिक्षा का उद्देश्य (अन्य कई उद्देश्यों के साथ) बच्चों में चिन्तन शक्ति का विकास करना है तो बच्चों के सामने विवादास्पद पहलू भी प्रस्तुत करने ही होंगे। इसके लिए सबसे अच्छा तरीका यह है कि शिक्षक पहलू के पक्ष-विपक्ष के सभी बिन्दुओं को वस्तुगत रूप से विद्यार्थियों के सामने रख दें, स्वयं कोई पक्ष न लें, अपना कोई निर्णय न दें तथा विद्यार्थियों को स्वयं निर्णय लेने दें, निर्णय लेने में उनकी मदद करें।

शिक्षक विद्यार्थियों से योग्यता, उम्र, अनुभव तथा ज्ञान में श्रेष्ठ होने से कक्षा में विद्यार्थियों द्वारा नेता माना जाता है तथा उसका स्थान कक्षा में अधिकारी के रूप में रहता है पर शिक्षक को हर समय यह बात दिमाग में नहीं रखनी चाहिए। ऐसी स्थिति में वह अपना कहना मानने के लिए कक्षा में विद्यार्थियों से कहे या न कहे, विद्यार्थी तो उसका कहना मानेंगे ही, उसकी वाणी को देववाणी मानेंगे। परम्परा से ही शिक्षक कक्षा में ऐसे स्थान पर रहता आया है कि उसका कहना विद्यार्थी स्वत: ही मानते हैं, जिसके फलस्वरूप शिक्षक तथा शिक्षार्थी के प्रभावी तथा मधुर सम्बन्धों का विकास होता है। कुछ शिक्षाविदों के अनुसार शिक्षक नेतृत्व करें, निर्णय लें तथा छात्र शिक्षकों की आज्ञा का पालन करें। इसीलिए डॉ. कार्ल मेनिंजर के अनुसार शिक्षण व्यवसाय में प्रवेश करने वाले नवयुवक भाग्यशाली हैं क्योंकि वे मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से स्वस्थ हैं तथा चिकित्सालयों में चिकित्सा के लिए बहुत कम आते हैं। पर कुछ अन्य विचारकों का ऐसा भी कहना है कि शिक्षक सदैव अपरिपक्व मस्तिष्क की संगति में रहते हैं, वे बालकों के बीच रहते हैं। अत: कोई निर्णय लेने की स्थिति में नहीं रहते, या उनके द्वारा लिया गया निर्णय कोई वजन नहीं रखता, उनका निश्चय या निर्णय सूझ-बूझपूर्ण या न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता, इसलिए उनकी आवाज को महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए। चूँकि बच्चे सोच-विचार व व्यवहार में अपरिपक्व होने से शिक्षक के मार्गदर्शन

में कक्षा-व्यवहार व कार्य करते हैं अत: कैसा पाठ्यक्रम हो, इसके लिए वे शिक्षक पर निर्भर रहना शुरू कर देंगे। शिक्षक कक्षा में बच्चों को उतना अधिक पढ़ाने के लिए स्वतंत्र होना चाहिए, जितना बच्चे पढ़ने के लिए तत्पर हों। इसी भाँति शिक्षक को अध्यापन की तथा विद्यार्थियां को सीखने के लिए उपयुक्त स्वच्छन्दतापूर्ण मुक्त वातावरण के चयन की स्वतंत्रता होनी चाहिए जिससे वे विद्यालय में उपयुक्त गति से प्रगति करते रहें।

सोचने-विचारने की प्रक्रिया में सुधार हो, यह बहुत सीमा तक अध्ययन-विधि पर निर्भर करता है। शिक्षक व्याख्यान विधि से पढ़ाते हैं या स्रोत विधि से। व्याख्यान विधि की अपेक्षा स्रोत विधि में बच्चों की पहल करने की प्रवृत्ति का लाभ उठाया जा सकता है, उनको सोचने की प्रक्रिया में इस विधि के माध्यम से स्वनिर्भर बनाया जा सकता है, जबकि व्याख्यान विधि से बच्चे शिक्षक पर निर्भर रहना सीख सकते हैं। पर साथ ही शिक्षकों को पूर्वाग्रहों या अन्धानुकरण के द्वारा शिक्षण से भी बचना चाहिए, क्योंकि कक्षाध्यापन में इसकी पूरी-पूरी सम्भावना रहती है। विद्यार्थी बजाय अपनी बुद्धि से स्वतंत्रतापूर्वक सोचे, दूसरों की बुद्धि पर आश्रित हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में होना यह चाहिए कि विद्यार्थी का निर्णय शिक्षक के निर्णय से सम्पूरित किया जाये। बालक को ज्ञात कारणों, आधारों एवं तथ्यों के प्रकाश में निर्णय लेने का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। शिक्षण-संस्थाओं से बाहर आने वाले विद्यार्थी किसी एक राजनीतिक दल के अनुयायी न बनें और न ही सरकार को किसी एक मत या विचारधारा पर दृढ़ रहकर प्रचार-प्रसार करना चाहिए बल्कि राजनीति की जगह अकादमिक आधारों पर आग्रह करना चाहिए, जिससे पढ़े-लिखों पर पक्षधरीकरण की छाया न पड़े। ऐसी स्वतंत्रता से बच्चों को जो जन्म से अनन्य विलक्षण क्षमताएँ मिली हैं, उनको अधिकतम विकसित होने का अवसर मिलता है। इस प्रकार शिक्षक बच्चों की वैयक्तिक स्वतंत्रता का रक्षक है। एक शिक्षित नवयुवक स्पष्ट चिन्तन की ओर अग्रसर तथा नये विचारों को खुले मस्तिष्क से स्वीकार करने को तत्पर रहना चाहिए। समझ-बूझ का विकास, उदार दृष्टिकोण, स्वतंत्रता के मौलिक मूल्य का विकास करने के लिए शिक्षकों को विद्यार्थियों की मदद करनी चाहिए। स्वतंत्र समाज में सही व उपयुक्त आलोचना के प्रति झुकाव या लगाव का विकास करना चाहिए।

प्रभावी शिक्षण विधि का फल चिन्तन में सुधार की योग्यता का विकास करना है। अध्यापन में कक्षा का आकार भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, कम विद्यार्थियों की कक्षा में सभी विद्यार्थियों को बोलने तथा अपने विचारों को अभिव्यक्त करने के अधिक अवसर मिलते हैं। ऐसी कक्षाओं में विद्यार्थियों को अधिक सीखने, अधिगम कार्य व्यापार में भाग लेने की सम्भावना रहती है। इससे कक्षा में विद्यार्थी के कार्य बढ़ते हैं जो उनकी चिन्तन शक्ति को अग्रसर करने में सहायक होते हैं। हाँ, बड़ी कक्षाओं अर्थात् अधिक छात्रों वाली कक्षाओं में ऐसा नहीं हो पाता। चरित्र तथा नैतिक आचरण चिन्तन तथा आदत की उपज है। व्यवहारों के प्रतिफल के रूप में अधिक सामंजस्य है।

निजी शिक्षा-संस्थाओं में कार्यरत शिक्षक शिक्षा के सुधार के लिए अधिक योगदान कर सकते हैं, वे सहमति या असहमति के लिए स्वतंत्र हैं। यदि मानविकी संकाय में पढ़ा-लिखा शिक्षक अपने सम्पूर्ण साधनों का प्रयोग करके भौतिकी अधिक दक्षता से पढ़ा सकता है, विज्ञान विषय के छात्रों को अधिक लाभ पहुँचा सकता है तो उसे ऐसा करने की तत्काल स्वीकृति मिल सकती है जबकि राजकीय विद्यालयों में ऐसा नहीं किया जा सकता, ऐसे शिक्षकों का विद्यालय के लिए यह बहुत बड़ा योगदान है। दक्ष कर्मचारियों को समान प्रकार का कार्य करने वाले पदों पर रोकने के दृष्टिकोण से निजी संस्थान अच्छे हैं, वे अपने कर्मचारियों की विशिष्ट सेवा का मूल्य समझते हैं। ऐसा करने से विद्यालय की अर्थव्यवस्था पर भी प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा। शिक्षा के गुणात्मक सुधार के लिए शिक्षक की शैक्षिक स्वतंत्रता बहुत ही अर्थपूर्ण है। इस भाँति वैयक्तिक योग्यता पर आधारित यह सुरक्षा तथा स्वतंत्रता अच्छी शिक्षा का बीमा है।

चिन्तन में स्वतंत्रता प्रजातांत्रिक पद्धति का जनक है। शिक्षा पर सरकार के नियंत्रण के दुष्परिणामों की अभी कल्पना नहीं की गयी है। राज्य शिक्षा को प्रचार तथा अन्धानुकरण का साधन बना सकता है तथा नागरिक सीमित क्षेत्र में ही सोच-विचार कर सकते हैं। ऐसी शिक्षा-व्यवस्था जिसमें शिक्षक सोचने-विचारने को स्वतंत्र है; प्रयोग करने, शिक्षण की नयी तकनीक काम में लेने को स्वतंत्र है, शोध करके निष्कर्षों को प्रकाशित करने, सत्य को परखकर पढ़ाने को पूर्ण स्वतंत्र है, जो अपने गुणों के अनुसार पहल करने को स्वतंत्र है, ऐसा ही शिक्षक स्वतंत्र एवं आलोचनात्मक चिन्तन को अग्रसर करता है।

अध्यापन के दौरान उस वक्त और भी कठिनाई उपस्थित होती है जब शिक्षक उस विवादास्पद पहलू के प्रति उदासीन हो य भिन्न हो। शिक्षक के व्यक्तित्व को उसके शिक्षण से पृथक नहीं किया जा सकता। शिक्षक उसके प्रति कितनी ही उदासीनता शिक्षण के समय दिखाए, पर व्यवहार में, सम्भव है, ऐसा न लगे। शिक्षक अपना व्यक्तित्व अपने शब्दों से छिपा नहीं सकता। शिक्षक चाहे मुँह से न बोले, पर उसका शान्त व्यवहार उससे भी ज्यादा प्रभावी होता है। कई बातों में से शिक्षक का व्यक्तित्व भी महत्त्वपूर्ण है जो बालक की विचारधारा, उसके व्यक्तित्व को प्रभावित करता है। बालक के व्यक्तित्व का विकास उपयुक्त राह पर होता हुआ देखकर शिक्षकों को प्रसन्नता होती है। इस भाँति यह कहना कि बिना अपना निर्णय दिये पहलू की सत्यासत्य स्थिति बच्चों के सामने रखना उपयुक्त है, अधिक वजनदार तर्क नहीं है।

यदि शिक्षक अपने विचारों को छिपाता है तो विद्यार्थी उसे पाखण्डी समझेंगे क्योंकि वे जिस बात पर विश्वास करते हैं, उसे न पढ़ाकर दूसरी बात पढ़ाते हैं या वे जिस बात पर आग्रह करते हैं, वह उनके व्यवहार में नहीं है या उसके अनुसार वे स्वयं व्यवहार नहीं करते हैं। यदि ऐसा होता है तो शिक्षक बच्चों तथा स्वयं में अविश्वास का विकास करता है। वास्तविकता यह है कि शिक्षक

का बहुत ज्यादा प्रभाव पड़ेगा तथा प्रभाव भी कथनी की अपेक्षा करनी का अधिक स्थायी होगा। साथ ही वह उस पहलू पर अधिकारी-विद्वान के विचार भी बच्चों के सामने प्रस्तुत कर सकता है। भय से शिक्षक पर कहने-सुनने की पाबन्दी नहीं लगायी जानी चाहिए। महत्त्वपूर्ण तो यह है कि बच्चों को सीखने की स्वतंत्रता हो। इस सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि जो भी तथ्य या सूचना या विचार प्रस्तुत किया जाये वह स्पष्ट हो, सही हो, संगत तथा संक्षिप्त हो। शिक्षक विवादास्पद मामलों के सभी पक्षों को निष्पक्ष ढंग से प्रस्तुत करे तथा इस बात की सतर्कता बरते कि स्वयं शिक्षक या शाला कोई एक पक्ष ग्रहण न करे। ऐसा होने पर भी एक भय तो बना ही रहेगा कि पक्ष तथा विपक्ष दोनों समान रूप से वस्तुगत प्रस्तुत किये गये हैं तो बालक कोई निर्णय ही न कर सकेगा क्योंकि उसे हर तर्क सन्तुलित प्रतीत हो रहा है। यदि ऐसा हुआ तो उसके व्यक्तित्व के विकास में बाधा पहुँचेगी या व्यक्तित्व का वांछित विकास न हो सकेगा।

कई बार एक ही शिक्षक का दो कक्षाओं में शिक्षण भिन्न-भिन्न रूप में लिया जा सकता है, क्योंकि सम्भव है, एक कक्षा के बालक दूसरे से भिन्न सम्प्रदाय के हों। इसी भाँति दो शिक्षकों का अध्यापन भी भिन्न-भिन्न रूपों में लिया जा सकता है। ऐसी स्थिति जब भी पैदा हो, तत्काल विचार-विमर्श कर स्पष्टीकरण कर लिया जाना चाहिए। ऐसा न करने पर दोनों शिक्षकों में अविश्वास पनप सकता है जो हानिकारक है। इससे भी अधिक बुरा यह होगा कि विद्यार्थी अपने ऐसे शिक्षकों का विश्वास खो देंगे, सम्मान गँवा बैठेंगे।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि यदि विवादास्पद विषयों का शिक्षण बिना पूर्व योजना के छोड़ दिया गया तो शिक्षण के समय अवश्य ही शिक्षक अपने निजी विचारों से प्रभावित होंगे। विवादास्पद विषयों का निर्णय एकाध दिन या सप्ताह में नहीं होता - इस प्रकार के निर्णयों में दीर्घ अवधि की जरूरत पड़ती है - ऐसे विषयों की प्रारम्भिक जानकारी विद्यार्थियों को दी जाए जिससे वे उस विषय की प्रकृति से परिचित हो सकें तथा स्थिति का उपयुक्त ज्ञान प्राप्त कर सकें। सामाजिक शक्तियों तथा विचारधाराओं के निष्कर्षों पर आधारित ऐसे विवादास्पद पहलुओं की जानकारी यदि विद्यार्थियों को दी जाए तो बच्चों को समाज की गतिविधियों, रीति-रिवाजों की जानकारी होगी तथा उनको उत्तरदायी नागरिक बनाने के लिए शिक्षक को प्रशिक्षण देने में मदद मिलेगी। उत्तरदायित्व न होने से तो शिक्षकों में भी अप्रसन्नता का विकास होता है। एक सही शिक्षक ही वह है जो अपने विद्यार्थियों में समाज-सम्मत मूल्य एवं सामाजिक व्यवहारों का विकास करता है। विद्यार्थियों को परखने, आलोचना एवं प्रत्यालोचना के ढंग से सोचने-विचारने को अग्रसर करता है जिससे वे साहसपूर्ण कार्यों को करने के लिए आगे बढ़ें।

शोध पर आधारित तथा उपयुक्त तथ्यों के प्रकाश में तर्कसंगत निर्णय लिये जाने चाहिए। तर्कपूर्ण, उपयुक्त व सन्तुलित निर्णय लेने में विद्यार्थियों की मदद के क्षेत्र में या इस कार्य के लिए

उनको प्रशिक्षण देने के सम्बन्ध में शिक्षकों का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। भावी समाज के लिए शिक्षकों को आवश्यक साधन-सम्पन्न बनाने के लिए शिक्षक शिक्षा की संस्थाओं की भूमिका अति महत्त्वपूर्ण है, इसी महत्त्व को ध्यान में रखते हुए उन्हें अपना शिक्षक कार्यक्रम पुनर्नियोजित करना चाहिए।

विश्वास

स्वतंत्रता की नींव विश्वास पर जमी हुई है। यदि शिक्षक का शिक्षण में स्वतंत्रता पर विश्वास है तो वह घोर संकटों का सामना भी करेगा। यदि उसे अपनी परिवर्तित शिक्षण तकनीक में विश्वास है तो कितनी ही कठिनाइयाँ आने पर भी उनके अनुसार ही शिक्षण करेगा। ऐसे दृढ़ निश्चय वाले शिक्षक स्वेच्छा एवं गर्व के साथ अपने मार्ग पर चलते रहेंगे। किस प्रकार वह अपने प्रयत्नों में सफल होता है, यह बहुत कुछ शिक्षक के व्यक्तित्व पर निर्भर करेगा।

शिक्षण की स्वतंत्रता से जुड़ा दूसरा घटक उत्तरदायित्व

शिक्षण की स्वतंत्रता में विश्वास के साथ ही जिम्मेदारी भी जुड़ी हुई है। शिक्षक यदि उत्तरदायित्व का भार वहन कर सके तभी उसे स्वतंत्रता का आनन्द मनाने की सोचना चाहिए। जो स्वतंत्रता प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें अपने व्यवसाय का भी पूरा ज्ञान होना चाहिए। यदि शिक्षक को शिक्षण तकनीक का अद्यतन ज्ञान नहीं है, पाठ्यक्रम-रचना की नवीन दिशाओं का ज्ञान नहीं है तो वह कक्षा-शिक्षण के समय न्याय नहीं कर पायेगा। अतः स्वतंत्रता का उपयोग करने के लिए व्यवसाय सम्बन्धी ताजा जानकारी की पूर्व आवश्यकता है।

कई शिक्षकों को व्यवसाय का ज्ञान तो है पर कार्य करने की इच्छा नहीं है। स्वतंत्रता में इच्छा पूर्व कल्पना है। उदासीनता तथा स्वतंत्रता साथ-साथ नहीं चल सकती। किसी विद्यालय में प्रयोग करने से पहले उस विषय का गहन एवं विस्तृत ज्ञान ही काफी नहीं है पर साथ ही साथ शिक्षक, प्रधानाध्यापक, अभिभावक को भी सन्तुष्ट कर सकने का पक्का विश्वास होना चाहिए। ऐसे कार्यों में बड़े साहस की जरूरत है। तनिक-सी कठिनाई के समय सभी विरोधी उठ खड़े होंगे तथा साथी शिक्षक का मनोबल गिराने की कोशिश करेंगे।

शैक्षिक स्वतंत्रता पर सभी शिक्षाविद् मतैक्य नहीं हैं। कुछ विचारक शैक्षिक स्वतंत्रता की मात्रा को सीखने वाले की परिपक्वता से जोड़ना चाहते हैं। स्पष्ट है कि महाविद्यालय या विश्वविद्यालय का स्नातक अधिक शैक्षिक स्वतंत्रता का उपयोग करेगा जबकि प्राक् विश्वविद्यालय का छात्र उससे कम तथा विद्यालयी बालक उससे भी और कम।

नागरिक स्वाधीनता तथा शैक्षिक स्वतंत्रता

यह नहीं भुलाया जाना चाहिए कि शिक्षक, शिक्षक होने के साथ-साथ नागरिक भी है।

शिक्षकों को उसी प्रकार स्वतंत्र रहने का अधिकार है जिस प्रकार अन्य नागरिकों को। जिस प्रकार अन्य नागरिक धर्म, पूजा-पाठ, विश्ववास, वेशभूषा, नाच-गाना, खान-पान के सम्बन्ध में स्वतंत्र हैं, ठीक उसी प्रकार शिक्षक भी स्वतंत्र रहना चाहते हैं। जब तक शिक्षक अपने समाज के लोकाचारों, आज्ञाओं और आदर्शों का पालन करता रहेगा, तब तक उसके सामने कोई कठिनाई नहीं होगी। पर ज्योंही वह इन सामाजिक मर्यादाओं से दूर हटा नहीं कि उस पर आपत्तियाँ आ सकती हैं।

यहाँ नागरिक स्वाधीनता तथा शैक्षिक स्वतंत्रता को सही अर्थों में लिया जाना चाहिए तथा इसी भावना से इनका अन्तर भी समझ लिया जाना चाहिए। नागरिक स्वाधीनता के दृष्टिकोण से यदि शिक्षक कोई ऐसा कार्य जो समाज के रीति-रिवाजों के अनुकूल नहीं है, कर लेते हैं तो समाज उनसे अपने पद से त्याग-पत्र की माँग कर सकता है। यदि ऐसा हो तो शिक्षक शैक्षिक स्वतंत्रता का नागरिकों द्वारा अतिक्रमण बताते हैं। यदि कोई व्यवसाय प्रबन्ध में स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण प्रधानाचार्य विद्यार्थियों को परीक्षा में सफलता के सूत्र पर व्याख्यान देता है तो वह आचार्य के रूप मं अनुभव-सिद्ध उपयोगी बातें बताता है जिनका उसने आजीवन अध्ययन किया है तथा इस विषय पर सामान्य व्यक्ति नहीं बोल सकता है। इस स्थिति में वह अपनी नागरिक स्वाधीनता की (न कि शैक्षिक स्वतंत्रता की) आज्ञा कर सकता है। पर यदि प्रधानाचार्य अपनी विशिष्टता के क्षेत्र से बाहर भी अधिकारपूर्वक बोलता है तो भी न उन्हें दण्डित किया जा सकता है तथा न ही पद-मुक्त। समाज का कर्तव्य है कि वह प्रधानाचार्य के छोटे-छोटे दायित्वों को स्वयं वहन कर ले, जिससे वह अपना कार्य समाज हित में और अच्छी प्रकार कर सके।

न्यायपालिका की स्वतंत्रता लोकतांत्रिक स्वतंत्रता की आधारशिला है। पर राज्य द्वारा प्रबन्धित शिक्षा के खतरों को आज तक नहीं सोचा गया है। राज्य शिक्षा का प्रचार एवं अन्धानुकरण के रूप में प्रयोग कर सकता है तथा नागरिकों को तकलीफ में डाल सकता है। ऐसी शिक्षा-व्यवस्था जहाँ शिक्षक की स्वतंत्रता है, शिक्षा में स्वतंत्रता जन्मदायिनी है तथा उसी के परिणामस्वरूप मूल विचार अग्रसर होते हैं। प्रथम स्थान पर स्वतंत्रता को प्रभावी रूप से प्रयोग करने के योग्य बनाती है। शैक्षिक स्वतंत्रता प्रतिकूल वातावरण में फल-फूल भी नहीं सकती। सही अर्थों में शैक्षिक स्वतंत्रता को सुदृढ़ एवं समृद्ध बनाने के लिए अध्ययन में रुचिशील, निर्भय तथा समर्पित शिक्षक व विद्यार्थी वर्ग का सहयोग अपेक्षित है। शैक्षिक स्वतंत्रता के क्षेत्र में प्रशासकों की ओर से फिर भी एक भय बना ही रहेगा। प्रशासक जब तक मुख्यत: सरकारी विद्यालयों में हस्तक्षेप की नीति के समर्थक रहेंगे तब तक शैक्षिक स्वतंत्रता आकाश-कुसुम ही बनी रहेगी। कल्पना कीजिए-किसी विशेष विद्यालय में कार्यानुभव पर कोई कार्य नहीं हुआ तो विद्यालय प्रधान को विद्यालय निरीक्षक की ओर से चेतावनी मिल जाएगी, दूसरी बार ऐसा न करने के लिए स्पष्टीकरण माँगा जायेगा। तीसरी बार स्पष्ट लिख दिया जायेगा कि ऐसा न होने पर सम्बन्धित अधिकारी को अपराधियों की सूची में अंकित कर दिया जायेगा।

उपर्युक्त विवेचन से विशुद्ध विशिष्ट ज्ञानरहित जनसाधारण तथा शिक्षाविद् विचारकों के दो सम्प्रदाय स्पष्ट होते हैं। प्रथम सम्प्रदाय के अनुसार विद्यालय को परम्परा से चली आई शिक्षा-व्यवस्था का पालन करना चाहिए, शिक्षकों को उस स्थिति का बिना प्रतिवाद किये अन्धानुकरण करना चाहिए तथा उन्हें अपनी स्वतंत्रता का मर्यादित उपयोग भी परम्परा के अनुसार ही करना चाहिए। शिक्षक का कार्य ऊपर से निर्धारित नीतियों का पालन, प्रचार व प्रसार करना मात्र हो जाता है। ऐसी स्थिति में प्रेरणा तथा आलोचनात्मक चिन्तन के विकास का प्रश्न स्वत: ही समाप्त हो जाता है। इसी भाँति विचारकों के दूसरे सम्प्रदाय के अनुसार विद्यालय को सामाजिक प्रगति का अग्रदूत बनना चाहिए, उसको समाज की गतिहीन स्थिति की आलोचना करनी चाहिए। शिक्षक को अपने शिक्षण में आलोचनात्मक भावना ग्रहण करने में अधिक स्वतंत्र होना चाहिए। विद्यालय सामाजिक प्रगति का आलोचनात्मक अध्ययन करे, उनके अनुसार विद्यालय अग्रदर्शी होना चाहिए, विद्यालय को परम्परागत व्यवस्था से ऊपर उठकर सोचना चाहिए तथा नये प्रयोग करने के लिए स्वतंत्रता होनी चाहिए एवं इस स्वतंत्रता का क्षेत्र भी विस्तृत होना चाहिए। कुछ विचारकों का कहना है कि शिक्षकों को परम्परा से हटकर बातें कहने में शैक्षिक स्वतंत्रता की सुरक्षा होनी चाहिए। पर दूसरे सम्प्रदाय के विचारक कहते हैं कि जनसाधारण से अधिक सुरक्षा नहीं होनी चाहिए, क्योंकि जैसा ऊपर कहा गया है, शिक्षक - शिक्षक होने से पहले नागरिक है तथा वह नागरिक स्वाधीनता का भी उपयोग करता है।

भारत में वर्तमान स्थिति

आज स्वतंत्र भारत में शैक्षिक स्वतंत्रता का अर्थ लिया जाता है कि प्रजातांत्रिक विधियों से शिक्षक को अध्यापन की, शोध छात्र को अनुसन्धान की, वैज्ञानिक को प्रयोग करने की, शिक्षार्थी को सीखने की स्वतंत्रता है। इन सबकी स्वतंत्रता समाजवादी समाज में प्रजातंत्र की स्वतंत्रता से भिन्न है। प्रजातंत्र में स्वतंत्रता थोड़ी मर्यादित हो जाती है। प्रजातंत्र में व्यक्ति-व्यक्ति के विचारों में भिन्नता हो सकती है, विचारों में भिन्नता होते हुए भी जीवन के लिए उसके योगदान की भी प्रशंसा की जानी चाहिए, उसके व्यक्तित्व का आदर किया जाना चाहिए तभी सम्मान के साथ उनका जीवनक्रम चलता रह सकता है।

पाठ्यक्रम

आज स्थिति यह है कि शीर्षस्थ व्यक्ति द्वारा मनोनीत या चयनित व्यक्ति पाठ्यक्रम तैयार करते हैं तथा यह आशा की जाती है कि अन्य शिक्षक उसका अनुगमन करेंगे। क्या इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि केवल कुछ ही शिक्षकों को सोचने-विचारने की आवश्यकता है? यदि ऐसा ही है तो शैक्षिक स्वतंत्रता कहाँ है? समाज में बेकारी बढ़ी तो पाठ्यक्रम बदलो। शिक्षा के पाठ्यक्रम

में उद्योग या कार्यानुभव जोड़ो। इसी भाँति समाज में अनैतिकता, भ्रष्टाचार या धोखाधड़ी बढ़ी तो पाठ्यक्रम बदलो, पाठ्यक्रम को इस प्रकार समृद्ध करो, उसमें नैतिक शिक्षा जोड़ो, जिससे बालकों में, आने वाली पीढ़ी में नैतिकता का विकास हो। सामान्यत: शिक्षकों से कुछ भी नहीं पूछा जाता तथा अधिकारी ही सब निर्णय ले लेते हैं। यदि पाठ्यक्रम की रचना आवश्यक ही हो तो शिक्षकों के मार्ग-दर्शन के लिए सुझाव के रूप में कुछ आधारभूत बिन्दु दे देने चाहिए तथा पाठ्यक्रम की रचना स्वयं शिक्षक पर छोड़ देनी चाहिए। ऐसा पाठ्यक्रम समाज की आवश्यकताओं को अधिक अच्छी तरह से पूरी कर सकेगा, क्योंकि वह अनुभव की हुई आवश्यकताओं पर आधारित होगा। इस प्रकार की कोई स्वतंत्रता शिक्षकों को आज तक नहीं दी गयी।

अध्यापन-विधि

आज के वातावरण में शिक्षक को विधियों पर प्रयोग करने, विधियों परिवर्तन, संशोधन, परिवर्द्धन करने की भी व्यवहारत: कई कारणों से स्वतंत्रता नहीं है, उसे केवल परम्परा से चली आयी विधियों के अनुसार ही पढ़ाना है, दूसरे शब्दों में शिक्षण-विधियों में गत्यात्मकता नहीं है। बच्चों से प्रश्न पूछे ही नहीं जाते। यदि पूछे जाते हैं तथा विद्यार्थी विस्मयकारी उत्तर देते हैं तो वे शिक्षक के कोप-भाजन बन जाते हैं। घूम-फिर कर उसके उत्तरों को स्वीकार कर बालकों में सृजनात्मकता का विकास किया जा सकता है। शिक्षकों को स्वतंत्रता होनी चाहिए कि आवश्यकता के समय शिक्षण-विधि में परिवर्तन कर शिक्षण को अधिक प्रभावी बना सकें जिससे विद्यार्थी अधिकाधिक लाभान्वित हो सकें। मूल्यांकन के लिए भी यही कहा जा सकता है।

पाठ्य-पुस्तकें

इस क्षेत्र में भी शिक्षकों का कोई स्थान नहीं है। पाठ्य-पुस्तकें शिक्षा निदेशक तय करता है। लगभग सभी राज्यों में पाठ्य-पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया है, ऐसी स्थिति में राष्ट्रीयकरण के सभी दोष यहाँ भी घर कर गये हैं। इस व्यवस्था में जिस प्रकार पुस्तकों का स्तर गिरा है, किसी से छिपा नहीं है। इस सम्बन्ध में भी राज्य विषय की एक से अधिक पुस्तकें प्रकाशित करवाकर शिक्षकों को चयन का अवसर दे सकते हैं। शिक्षकों को इतनी स्वतंत्रता तो होनी ही चाहिए कि वे अपने बच्चों के लिए उपयुक्त पुस्तकों का चयन कर सकें। इसमें डर यह है कि शिक्षक या प्रकाशक भ्रष्ट हो जाएँगे। पर यह तो व्यवस्था का दोष है, न कि स्वयं सिद्धान्त का। पाठ्य-पुस्तकें ऐसी होनी चाहिए कि वह केवल तैयार व बने-बनाये निष्कर्षों को ही प्रस्तुत नहीं करें, वरन् निष्कर्षों तक पहुँचने के लिए विद्यार्थियों को स्वतंत्रता भी प्रदान करें। इसमें विद्यार्थी आगे चलकर नागरिक के रूप में व्यावहारिक समस्याओं के श्रवण, मनन व निदिध्यासन के माध्यम से समाधान ढूँढ़ने में सक्षम होंगे।

प्रश्न उठता है कि शिक्षक स्वतंत्रता क्यों चाहता है? उच्चाधिकारियों के संकेतानुसार काम करके वह सन्तोष क्यों नहीं कर लेता? स्वतंत्रता शिक्षक का जन्मजात अधिकार, सहजवृत्ति एवं बुनियादी आवश्यकता है। स्वतंत्रता से मनाही का अर्थ है- आत्मानुभव के अवसरों व समाजसेवा से दूर होना। प्रश्न यह नहीं है कि बिना स्वतंत्रता के भी कुछ शिक्षक अच्छा कार्य कर रहे हैं, यह कोई कष्टा नहीं है पर ऐसा करना तो उन शिक्षकों के स्वभाव में है। स्वतंत्रता में ही रहकर शिक्षक अधिकतम विकास कर सकता है। क्या कभी अन्तर्राष्ट्रीय तनाव व भय समाप्त होंगे? क्या कभी व्यक्तियों की हत्या करने तथा सार्वजनिक सम्पत्ति को जलाने के बजाय तर्क व प्यार से भी बात होगी? क्या कभी सम्पूर्ण विश्व को कुटुम्ब के रूप में पिरोया जा सकेगा? इस विचार का विकास किया जाना चाहिए। इस प्रकार के विश्व की रचना के लिए शिक्षक का स्थान महत्त्वपूर्ण है। क्या शिक्षक अपने तुच्छ राजनीतिक स्वार्थों तथा अपनी पाशविक इच्छाओं के वशीभूत होकर स्वतंत्रता, समानता, अहिंसा तथा सत्य पर आधारित अपना कर्तव्य भूल जायेगा? क्या शिक्षक सत्य के लिए आग्रह करेगा तथा विद्यार्थियों को भी सत्य पर आग्रह के लिए तत्पर बनायेगा? इन सब प्रश्नों के उत्तर पर ही भावी सभ्यता निर्भर करती है।

राष्ट्रीय नवजागरण में हिन्दी पत्रकारिता की भूमिका

मुकेष कुमार*

नवजागरण एक राजनीतिक तथ्य, ऐतिहासिक कालबोध, जीवनशैली में परिवर्तन तथा आधुनिक मानव सभ्यता के उद्‌गम विकास की आदर्श मूल प्रतीक अवधारणा है। नवजागरण न आधुनिक युग का अरुणोदय मात्र है न अतीत की वापसी, न उच्च क्लासिकी ज्ञान का संरक्षण, न सामन्ती व्यवस्था के विरुद्ध राज व्यवस्था, न अभूतपूर्व आविष्कारों की खोज मात्र है। नवजागरण का मूल प्रस्थान बिन्दु है- मानव, मानव मंगल और मानव की स्वतंत्र सत्ता का विकास। इसकी मूल चेतना सुसुप्त जनमानस में नवस्फूर्त चेतना, विवेकयुक्त मुक्त चिन्तन और राष्ट्र-भाव-ज्ञान संवेदन का स्फुरण जागरण। यह इतिहास है आत्मबोध, आत्मपरीक्षण और आत्मचेतना की प्राप्ति का जिसने मानव जाति को प्रबुद्ध, स्वाधीन, आधुनिक और कर्तव्यशील बनाया।

भारतीय इतिहास के सन्दर्भ में 19वीं सदी का काल जिसमें सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनीतिक पुनरुत्थान और नवविकास आया। इस काल में राष्ट्र और राष्ट्रीयता की चेतना का विकास हुआ। 19वीं शताब्दी की इस भारतीय नवजागरण को विकसित करने में हिन्दी पत्रकारिता की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही। समकालीन भारतीय परिदृश्य में पत्रकारिता एक मिशन को लेकर चल रही थी जिसका उद्देश्य था- सामाजिक-आर्थिक-धार्मिक-सांस्कृतिक क्षेत्रों में फैली कुरीतियों के प्रति भारतीय जनमानस को जागरूक करना। समकालीन विचारकों ने पत्रकारिता के माध्यम से लोगों को जागरूक किया। हिन्दी पत्रकारिता ने राष्ट्रीय नवजागरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।

इसी परिदृश्य में जब 19वीं शताब्दी में राष्ट्रीय नवजागरण और सुसंगठित जनमत के अंकुरण का काल था, इसी परिवेश में पत्रकारिता विकास हुआ। इस नयी प्रविधि ने भारतीयों में चेतना फैलाने का काम किया। यह न केवल सामाजिक बल्कि समाज के विभिन्न आयामों में जागरूकता फैलाने का काम किया। राजा राममोहन राय का मानना था- "मेरा उद्देश्य मात्र इतना ही है कि जनता के सामने ऐसे बौद्धिक निबन्ध उपस्थित करूँ जो उनके अनुभव को बढ़ायें और सामाजिक प्रगति में सहायक सिद्ध हों।" इस मिशन को लेकर चलने वाली पत्रकारिता का राष्ट्रीय

---

*कनीय शोध छात्र (JRF), जनसंचार अध्ययन केन्द्र, पंजाब वि.वि., चण्डीगढ़; Email: mukesh29kumar@gmail.com

नवजागरण के विकास में बड़ी भूमिका रही।

अरविन्द घोष का मानना था- "राजनीतिक आजादी किसी राष्ट्र की जीवन वायु है।" इसको पाने के लिए पत्रकारिता ने जनमानस में विचारों को उद्वेलित किया। पत्रकारिता द्वारा यह बताया जाता था- "मुल्क हिन्दुस्तान के रहनेवाले हर कौम और मजहब के लोगों से मेरी इल्तजा है कि इस नामुराद फिरंगी कौम से मुल्क की हुकूमत को छीनकर मुल्क के काबिल और समझदार लोगों के हाथ में मुल्क सौंप दें।"

यह चेतना न केवल राजनीतिक क्षेत्रों बल्कि आर्थिक क्षेत्रों में भी दिखाई देता है जो पत्रकारिता के माध्यम से हो रहा था।

"अंगरेजी अरु फारसी अरबी संस्कष्ठ ढेर,

खुले खजाने तिनन्ही क्यों लुटत लाबहू देर।"

नवजागरण हेतु आत्मगौरव की बात पत्रकारिता में भी हो रही थी।

"एक देव, एक देष्ठा, एक भाषा,

एक जाति, एक जीव, एक आष्ठा।"

हिन्दी पत्रकारिता में स्वराज हेतु संघर्ष करने की बात भी की जा रही थी।

"मुझको तोड़ लेना वनमाली उस पथ पर देना तुम फेंक

मातष्ठूमि पर ष्ठीष्ठा चढ़ाने जिस पथ जायें वीर अनेक।"

इस ष्ठोध-त्र में यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि समकालीन भारतीय परिदष्ठय में किस तरह हिन्दी पत्रकारिता राष्ट्रीय नवजागरण में अपनी सष्ठाक्त भूमिका निभा रही थी। यह बताने का प्रयास किया गया है कि पत्रकारीय सरोकारों से लैस होकर समकालीन समस्याओं से संघर्ष हेतु प्रेरित कर रही थी।

प्रस्तावना

नवजागरण मूलत: यूरोपीय इतिहास से ली गयी अवधारणा है जिसका प्रयोग और विकास 19वीं सदी के भारत में इसके ऐतिहासिक-सांस्कष्ठतिक विरासत और चिन्तन के अनुरूप हुआ है। 'वन्दे मातरम्' पत्र के अनुसार- "राष्ट्रीय नवजागरण वस्तुत: पुनर्जन्म है और पुनर्जन्म न केवल बुद्धि से न पूर्ण आर्थिक समष्ठद्धि से, न नीति या सिद्धान्त से, न प्रष्ठासनिक परिवर्तन से होता है। वह तो नया हृदय प्राप्त करने, त्याग की अग्नि में अपना सर्वस्व होम करने और माँ के गर्भ में पुन: जन्म लेने से होता है।"[1]

भारतीय विचारकों ने 19वीं शताब्दी की सामाजिक-सांस्कृतिक रूपान्तरण, पुनरुत्थान तथा नवविकास को 'भारतीय नवजागरण'[2] के नाम से जाना जाता है। शिवदान सिंह चौहान ने राष्ट्रीय नवजागरण को इसी अर्थ में रूपायित किया है- "राष्ट्रीय जागरण से तात्पर्य अपने राष्ट्रीय अस्तित्व एवं एकता की ब्रिटिश सत्ता विरोधी राजनीतिक चेतना या भावना का उत्पन्न हो जाना मात्र नहीं, इससे केवल इतना समझ लेना इसके अर्थ को अत्यन्त संकुचित कर देना है। हमारे राष्ट्रीय जागरण से मिलती-जुलती किन्तु भिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियों में एक धारा यूरोप के देशों में पहले प्रवाहित हो चुकी है जिसे इतिहास में सांस्कृतिक पुनर्जागरण कहते हैं।"[3]

ब्रिटिश सत्ता के अधीन भारतीय इतिहास में 19वीं शताब्दी का नवजागरण काल राष्ट्रीयता के भावों का प्रतीक भी था। देवराज पथिक कहते हैं- "वस्तुतः जब कभी भी समाज अथवा राष्ट्र की परम्परागत मूल धारणा निर्बल पड़ जाती है और किसी नयी विचारधारा को कोई समाज अथवा राष्ट्र ग्रहण करता है और वह विचारधारा किसी निश्चित लक्ष्य अथवा ध्येय के आलोक में आगे बढ़ती है तो राष्ट्रीयता की भावना जागृत होती है। इसी जागृति को राष्ट्रीय नवजागरण के नाम से सम्बोधित किया जाता है।"[4] वस्तुतः भारतीय राष्ट्रीय नवजागरण यूरोपीय सभ्यता और ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के राजनीतिक प्रभुत्व के संघर्ष-प्रतिसंघर्ष से उत्पन्न जनान्दोलन था।

19वीं शताब्दी के इसी परिदृश्य में भारतीय पत्रकारिता का विकास प्रारम्भ हुआ। यह आधुनिक काल की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानी जाती है जिससे जागरूकता का व्यापक प्रसार सुलभ होता है। पत्रकारिता ने उस सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना को वैज्ञानिक आलोक में मानवीय धरातल के विभिन्न स्तरों और आयामों पर प्रस्तुत किया। इससे भारतीय पत्रकारिता ने भारतीय जनजागरण और कालान्तर में राष्ट्रीयता के विकास को प्रोत्साहित किया। पत्रकारिता, नवजागरण और राष्ट्रीयता का विकास एक दूसरे हेतु सहायक रही। यदि भारतीय पत्रकारिता को राष्ट्रीयता ने विकसित किया तो पत्रकारिता ने भी राष्ट्रीयता के विकास में भूमिका निभायी। इस प्रकार राष्ट्रीयता के विकास के साथ-साथ पत्रकारिता का अपेक्षित विकास हुआ।

पत्रकारिता के इसी दौर में केशवचन्द्र सेन ने सर्वप्रथम हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित किया। इन्होंने कहा- "इस समय भारत में जितनी भाषाएँ प्रचलित हैं, इस हिन्दी भाषा को यदि भारतवर्ष की एकमात्र भाषा बनाया जाये तो यह कार्य शीघ्र ही समाप्त हो सकता है।" इस परिवर्तन में पत्रकारिता का विकास हुआ।

19वीं शताब्दी की हिन्दी पत्रकारिता ने न केवल सामाजिक-धार्मिक कुरीतियों हेतु जनमानस में जागरूकता फैलाया बल्कि राजनीतिक क्षेत्रों में ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध मुक्ति की मानसिकता को तैयार करने में योगदान दिया। हिन्दी पत्रकारिता ने राष्ट्रीयता को आकार देने का काम भी किया। "यह राष्ट्रीयता भारत के लिए नवीन विश्वास था इससे पहले इस देश में यह बात अपरिचित थी।"[5]

भारत में राष्ट्र और राष्ट्रीयता की भावना के प्रति चेतस और एकीकरण का काम 19वीं ष्ठाताब्दी में हिन्दी पत्रकारिता द्वारा किया गया। यही प्रवष्ठि 'राष्ट्रीय नवजागरण' कहलाती है।

सैद्धान्तिक आधार

सामाजिक परिवर्तन लाने में मीडिया की महत्त्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। विकास के क्षेत्र में सूचना का सबसे अधिक महत्त्व होता है। बिना किसी सूचना के किसी भी क्षेत्र में विकास सम्भव नहीं हो सकता। सामाजिक उत्तरदायित्व सिद्धान्त के तहत यह माना जाता है कि मीडिया का दायित्व है कि लोगों को सार्थक सूचना दे ताकि विकास की गति को तेज किया जा सके। इसके तहत यह माना जाता है कि मीडिया संस्थानों की व्यावसायिक विवष्ठाताओं के बावजूद यह महज व्यवसाय कर्म नहीं है, बल्कि इसके पीछे सामाजिक उत्तरदायित्व का बोधा होना चाहिए।[6]

विकास का तात्पर्य आत्मनिर्भर, समानता व न्याय पर आधारित समाज से है। विकास को लोगों के भौतिक जीवन में सुधार पर आधारित समावेष्ठी समाज और आत्मनिर्भर देष्ठा के आधार पर जाँचा जाना चाहिए। सूचना संचार तकनीक 21वीं ष्ठाताब्दी का सबसे प्रभावष्ठाली यंत्र है जिसने नये युग का सूत्रपात किया है।[7] यह विकास सिद्धान्त के तहत माना जाता है, जिसके तहत जनमाध्यमों का प्रयोग भौतिक विकास के लिए किया जाता है ताकि समाज में समावेष्ठी विकास हो सके क्योंकि समावेष्ठी विकास भारत जैसे विकासष्ठील लोकतांत्रिक देष्ठों की महत्त्वपूर्ण जरूरत है।[8]

उपकल्पना

1. राष्ट्रीय नवजागरण में हिन्दी पत्रकारिता की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही थी।
2. राष्ट्रीय नवजागरण में हिन्दी पत्रकारिता की भूमिका नहीं रही थी।

ष्ठोध प्रविधि

इस ष्ठोध-पत्र में ऐतिहासिक अनुसन्धान पद्धति प्रकार का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार के अनुसन्धान के अन्तर्गत अतीत की घटनाओं, संस्थाओं, समूहों, संघटनों, परम्पराओं आदि का विवेचन, अन्वेषण और विष्ठलेषण किया जाता है। इस अध्ययन के लिए प्रथम, प्रारम्भिक तथा मौलिक प्रमाणों एवं अभिलेखों की सहायता ली जाती है।[9]

इसमें अन्तर्वस्तु विष्ठलेषण पद्धति का प्रयोग भी किया गया है। इसको सांकेतीकरण के नाम से भी जाना जाता है। इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की मीडिया सामग्री का संकलन और विष्ठलेषण किया जाता है। यह गुणात्मक हो सकता है, गणनात्मक हो सकता है, सैद्धान्तिक हो सकता है और व्यावहारिक भी। इसे मीडिया ष्ठोध का एक ऐसा संयंत्र बताया जो मीडिया की छिपी हुई अदष्ठय सामग्रियों को भी लक्षित जनसमूह तक पहुँचाने में कारगर है।[10]

साहित्य समीक्षा

मीरा रानी बल ने 'राष्ट्रीय नवजागरण और हिन्दी पत्रकारिता में नवजागरण' (वाणी प्रकाशन) की अवधारणा की विवेचना करते हुए हिन्दी पत्रकारिता के योगदान का आलोचनात्मक मूल्यांकन किया है। इसमें राष्ट्रीय नवजागरण और पत्रकारिता के सैद्धान्तिक पहलुओं को इसके विकास से जोड़ा। इसमें पत्रकारिता के विभिन्न आयामों और स्वरूपों को स्पष्ट किया। इसमें यहाँ बताया गया है कि किस तरह हिन्दी पत्रकारिता ने पहली बार भारतीयों में वैज्ञानिक समझ विकसित की। इसमें हिन्दी पत्रकारिता के माध्यम से राष्ट्रीय नवजागरण का शोधात्मक मूल्यांकन किया है।

कृष्ण बिहारी मिश्र ने 'हिन्दी पत्रकारिता जातीय चेतना और खड़ी बोली साहित्य की निर्माण भूमि' (भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन) में राष्ट्रीय नवजागरण में हिन्दी पत्रकारिता की भूमिका का उदाहरण सहित विवेचना की है। इसने 'हिन्दी पत्रकारिता में कलकत्ते का योग' में यह बताया कि किस तरह हिन्दी पत्रकारिता की जन्मभूमि रही तथा यहाँ विकसित हुई। राजाराम मोहन राय से लेकर महात्मा गाँधी तक की भारतीय राष्ट्रीयता के बदलते स्वर का हिन्दी पत्रों ने जिस तरह का साथ दिया उसका क्रमशः ऐतिहासिक विकास दिखाया है।

जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी ने 'हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास' (प्रभात प्रकाशन) में बताया है कि किस तरह से हिन्दी समाचार पत्रों ने समकालीन समय में राष्ट्रीय चेतना के वाहक का काम किया। इसमें बताया कि किस तरह न केवल ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध बल्कि सामाजिक-धार्मिक क्षेत्रों में भी पत्रों ने जागरूकता फैलायी।

'पत्रकारिता का समाजशास्त्र' (आकृति प्रकाशन) में रवि भूषण पाण्डे ने बताया कि हिन्दी पत्रकारिता ने भारतीय समाज को एकता के सूत्र में बाँधने का कार्य जो हिन्दी में किया वो जगजाहिर है। स्वदेशी आन्दोलन के उद्‌भव एवं विकास में हिन्दी साहित्य तथा हिन्दी पत्रकारिता ने 19वीं शताब्दी में जो किया था वो आज भी मील का पत्थर बना हुआ है।

'भारतीय पत्रकारिता : आज और कल' (सत्साहित्य प्रकाशन, दिल्ली) में सुरेश गौतम और वीणा गौतम ने देश की राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना को जागृत करने वाली हिन्दी पत्रकारिता में अहिन्दी भाषी पत्रकारों की भूमिका की विवेचना की है।

रमा मल्होत्रा ने 'हिन्दी पत्रकारिता : आज और कल' (संजय प्रकाशन) में हिन्दी पत्रकारिता ने कहा है कि हिन्दी पत्रकारिता ने राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधने और चेतना फैलाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।

जे. नटराजन ने 'भारतीय पत्रकारिता का इतिहास' (प्रकाशन विभाग) में पत्रकारिता के विकास का इतिहास बताया है। इसमें यह भी बताया है कि किस तरह राष्ट्रीय जागरण में इस समय

के पत्रों ने समाज में योगदान दिया।

राष्ट्रीय नवजागरण और हिन्दी पत्रकारिता

पत्रकारिता राष्ट्र की आत्मा और जीवनी ष्ठाक्ति को पुनर्जीवित करने का सष्ठाक्त माध्यम है। वह राष्ट्रीय जीवन की समस्त गतिविधियों की अनुभूति का दर्पण होती है।[11] रेनैसा काल की हिन्दी पत्रकारिता का तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कष्तिक नवजागरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। 19वीं ष्ठाताब्दी के क्रान्तिकारी परिवर्तनों और नवजागरण ने भारतीय जनमानस को जागरूक किया। इतिहासकार विपिन चन्द्र का मानना था- "19वीं ष्ठाताब्दी के अन्तिम दष्ठाक में ष्ठिाक्षित भारतीयों पर पत्रकारिता के प्रभाव को स्वीकार किया है क्योंकि इसके माध्यम से जनता का राजनीतिकरण और राजनीतिक-आर्थिक चेतना का प्रसार किया गया था।[12]

समकालीन हिन्दी पत्रकारिता के माध्यम से राजनीतिक-आर्थिक गतिविधियों की पारदर्ष्ठाक सच्चाई उजागर हो उठती है। इस काल की पत्रिकाओं में सामयिक सामाजिक-धार्मिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह की चेतना को देखा जा सकता है। इसमें ब्रिटिष्ठा सत्ता से मुक्ति हेतु संघर्षकारिता की भावना का संचार भी देखने को मिलता है- "हिन्दी पत्रकारिता ने अनेक गम्भीर राजनीतिक प्रष्ठनों और विषम आर्थिक समस्याओं पर निरन्तर चिन्तन, विष्ठलेषण, चर्चा और वाद-विवाद करके राष्ट्रीय जीवन में एक नया मोड़ और राजनीतिक झंझावात ला दिया।"[13]

'पयामे आजादी' पत्र में राजनीतिक संघर्षकारिता की धारा अत्यन्त तीव्र है-

"आया फिरंगी दूर से ऐसा मंतर मारा

लूटा दोनों हाथों है प्यारा वतन हमारा"

इसी पत्र में प्रकाष्ठिात कविताओं से राजनीतिक चेतना का विकास व्यापक रूप से हुआ-

"हम हैं इसके मालिक, हिन्दुस्तान हमारा

पाक वतन है कौम का जन्नत से भी प्यारा"

1907 में इलाहाबाद से प्रकाष्ठिात 'स्वराज' नामक साप्ताहिक पत्र में राष्ट्रीय पराधीनता के अवसान और स्वाधीनता के आगमन की कामना प्रकट करते हुए सम्पादक के लिए विज्ञापन इस प्रकार प्रकाष्ठिात किया गया है-

"चाहिए स्वराज के लिए एक सम्पादक, वेतन दो सूखी रोटियाँ, एक ग्लास ठण्डा पानी और हर सम्पादकीय के लिए दस साल की जेल।"

स्वतंत्रता किसी राष्ट्र की प्राणवायु होती है। इसके लिए हिन्दी पत्रकारिता ने जनमानस में

चेतना का संचार किया। स्वराज की स्थापना हेतु 'नृसिंह' ने लिखा- "स्वराज की आवश्यकता भारतवासियों को इसलिए है कि विदेशी सरकार उनके अभाव को समझने में असमर्थ है। स्वराज के बिना भारत की गति नहीं है।"

राष्ट्रप्रेम की भावना को प्रसारित करने में दशरथ प्रसाद की 'स्वदेशी' ने भी योगदान दिया-

"जो भरा नहीं भावों से बहती जिसमें रसधार नहीं

वह हृदय नहीं, पत्थर है, जिसमें स्वदेश का प्यार नहीं।"

पराधीनता के काल में स्वाधीनता हेतु भारतीय जनमानस का आह्वान किया-

"ऐ मादरे हिन्द न हो गमगीं दिन अच्छे आने वाले हैं

आजादी का पैगाम तुम्हें हम जल्द सुनाने वाले हैं।"

क्रान्तिकारिता की तेजस्वी प्रतीक के पत्र 'गदर' ने मातृभूमि के लिए उत्सर्ग का तराना गुंजित किया-

"जो पूछे कौन हो तुम, तो कह दो बागी है नाम अपना

जुल्म मिटाना हमारा पेशा, गदर करना है काम अपना।"

राजनीतिक स्तर पर जागरूकता फैलाने हेतु क्रान्तिकारियों ने भी अपनी वैचारिक अवधारणा को जनमानस के सामने हिन्दी पत्रकारिता के माध्यम से प्रस्तुत किया। 'विजय' पत्र का कहना था कि-

"लेकर पूर्ण स्वराज स्वत्व अपना पहचानें

आजादी या मौत यही प्रण में ठानें।"

ब्रिटिश शासक भारतीयों के साथ अमानवीय व्यवहार करते थे। 'भारत जीवन' ने लिखा- "क्या देशी मनुष्य नहीं होते; पाँव और हृदय नहीं, क्या उनके हाथ नहीं हैं? क्या देशियों को मारने से चोट नहीं लगती?"[14]

जागरणकालीन पत्रकारिता ने फूटपरस्त भावनाओं और परस्पर सद्भाव के अभाव को ही भारतीय परतंत्रता और देशोन्नति न होने का मूल कारण बताया- "अमीर और रईसों की ओर अदृष्टि और आपस का विरोध ही देशोन्नति न होने का कारण है।"[15]

'उचित वक्ता' ने देशीय एकता पर जोर देते हुए आपसी मतभेद भुलाकर उनका अनुकरण करने को कहा- "एकता जिसके अभाव से यह अगण्य भारतवासी मुष्टि प्रमाण लोगों के पददलित हो रहे हैं।"

नवजागरणकालीन पत्रकारिता न केवल राजनीतिक क्षेत्रों में जागष्टि फैला रही थी बल्कि सामाजिक क्षेत्रों में भी हिन्दी पत्र-पत्रिका ने इसको फैलाया। स्त्री ष्टिाक्षा पर बल देकर सामाजिक सुधारों पर बल दिया। आगरा से प्रकाष्टित 'बुद्धि प्रकाष्ठा' ने लिखा- "स्त्रियों में सन्तोष, नम्रता और प्रीति ये सब गुण कर्ता ने, केवल विद्या की ही न्यूनता है। जो यह भी होती तो स्त्रियाँ अपने सारे ऋण से चूक, उत्पन्न किये हैं, सकती हैं।"

कहने को तो 'कवि वचन सुधा' साहित्यिक पत्रिका थी, परन्तु इसने जो दिष्ठा-निर्देष्ठा दिया उसके परिणामस्वरूप हिन्दी जगत् में ऐसी पत्रकारिता का प्रचलन हुआ जो किसी सामाजिक सुध ार, जाति मत विष्ठोष के समर्थन से नहीं चल रही थी, बल्कि जिसका उद्देष्ठय समूचे पाठकों को चाहे वे किसी भी क्षेत्र, धर्म या जाति के हों देष्ठा की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक समस्याओं से परिचित करना था।

महिलाओं पर केन्द्रित पत्रिका ने भी महिलाओं में जागरूकता फैलाने का काम किया। 'सुगष्टिणी' पत्रिका की सम्पादक हेमन्त कुमारी चौधरी ने इस पत्रिका का उद्देष्ठय बताते हुए लिखा- "हे बहनों द्वार, तुम्हारे दुखों को देखकर तुम्हें अज्ञानता और पराधीनता में बद्ध देखकर, तुम्हारे यहाँ कौन आई है, खोल दो। तुम्हारी यह बहिन तुम्हारे द्वारे पर आई है।"

इस काल की पत्र-पत्रिकाओं ने बाल विवाह की सामाजिक विसंगति पर भरपूर प्रहार किया। हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं ने बाल विवाह से होने वाली राष्ट्रीय हानि तथा सामाजिक पतन को गहराई से विवेचित किया है। सामाजिक रूढ़ियों पर प्रहार किया है। बाल विवाह, ष्टिाष्ठु हत्या, विधवा विवाह, अस्पष्ठयता जैसे विषयों पर लिखा।

तात्कालिक हिन्दी पत्रकारिता ने समाज की हर दुखती राग को छेड़ा जिसे पत्रकारों ने जिया और भोगा था। उसने सामाजिक दायित्व वहन करने में पूरी ईमानदारी और वैज्ञानिक चिन्तन का सहारा लिया था। तत्कालीन पत्रकारिता की जीवन्तता और प्रासंगिकता उनकी गहरी चिन्तन का परिश्रम था।

नवजागरणकालीन हिन्दी पत्रकारिता ने न केवल सामाजिक और राजनीतिक बल्कि आर्थिक मुद्दों पर भी लोगों को जागरूक किया। इस क्षेत्र में भी पत्र-पत्रिकाएँ नवजागरण फैला रही थीं। 'मालवा अखबार' का लिखना है- "भारतीयों को अक्ल नहीं है कि विलायत से कपड़ा बनकर आता है तथा हमारा रुपया विलायत जा रहा है।"

भारतेन्दु हरिष्ठचन्द्र ने ब्रिटिष्ठा सत्ता के आर्थिक ष्ठोषण को उजागर किया है- "जैसे हजार धारा होकर गंगा समुद्र में मिलती है वैसी ही तुम्हारी लक्ष्मी हजार तरहों से इंग्लैण्ड जाती है।" देष्ठा की दुर्दष्ठा पर भारतेन्दु व्यथित हो गये थे-

"अब जहँ देखहुँ तहँ दुखहिं दुख दिखाई

हा हा भारत दुर्दष्ठा न देखी जाई।"

स्वदेष्ठी के प्रति आग्रह करते हुए 'उचित वक्ता' पत्र लिखता है- "देष्ठी वस्तुओं का आदर देष्ठा की आवष्ठयकता है यदि देष्ठावासी विष्ठोषकर बाबू लोग देष्ठी वस्तुओं का समादर करने लग जायें और विलायती कल की बनी वस्तु की प्रतियोगिता में देष्ठी हाथ की बनी वस्तुओं को बर्ताव में लेने लग जायें तो अनायास देष्ठा की हीन दष्ठा में परिवर्तन हो सकता है।"

'परदेष्ठी भारतवासी' पत्र में अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ने देष्ठावासियों को जागरूक करते हुए कहा- "आओ समस्त देष्ठावासियों! हम लोग उपनिवेष्ठा और उसके पिट्ठू इंग्लैण्ड की वस्तुओं का बहिष्कार करें।"

हिन्दी पत्रकारिता ने धार्मिक क्षेत्रों में फैली कुरीतियों और साम्प्रदायिकता के विरुद्ध भारतीय जनमत को जागरूक करने का भी काम किया। 'मालवा अखबार' ने लिखा- "मजहब हरेक का अपना-अपना व्यक्तिगत कानून बने तो ऐसा विचार तक सीमित है - पाठ और दैनिक आचार - जिसका मतलब सिर्फ पूजा, मामला है मुसलमान और ईसाइयों में भेड़ - जिसमें हिन्दू भाव बढ़ाने की जगह कम हो और आपस में प्रेम से रह सकें।"

हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं ने धर्म और संस्कष्ति को व्यापक उदात्त अर्थ में ग्रहण किया था। उसे किसी सम्प्रदाय विष्ठोष से सम्बद्ध न होकर मानव धर्म और राष्ट्र धर्म के रूप में निरूपित किया गया है। 'सारसुरा निधि' में लिखा है- "प्रकष्ति के उत्कर्ष साधन का नाम धर्म है, अतएव दोनों प्रकार के उत्कर्ष करना ही मनुष्य का उचित कर्तव्य है।"

निष्कर्ष

यह कहा जा सकता है कि हिन्दी पत्रकारिता राष्ट्रीय नवजागरण के लिए वैचारिक क्रान्ति की वाहिका रही। वहीं पत्रकारिता को आधुनिक स्वरूप प्रदान करने का श्रेय नवजागरणकाल को दिया जा सकता है। नवजागरण की प्रवष्ठि ने हिन्दी पत्रकारिता में प्रगतिष्ठीलता, यथार्थपरक दष्टिकोण, राष्ट्रीय बोध का संचार किया। जातीय चिन्तन को सबल रूप से पेष्ठा करके नवजागरण के माध्यम से पत्रकारिता में वैज्ञानिक तर्कष्ठीलता और बौद्धिकता का समावेष्ठा किया। इस प्रकार कहा जा सकता है कि इस काल की पत्रकारिता ने समाज के विभिन्न क्षेत्रों में जागरूकता का संचार किया।

सुझाव

जिस प्रकार नवजागरणकालीन हिन्दी पत्रकारिता ने सरोकारों से लैस होकर समाज में चेतना

का प्रसार करके समसामयिक समस्याओं को दूर करने की दिष्ठा में प्रयास किया था, उसी प्रकार वर्तमान में भी पत्रकारिता को चाहिए कि अपने मिष्ठान को जनपक्षीय सरोकारों से युक्त करके न्याय, लोकतंत्र और विकास के लिए काम करे, क्योंकि आज पत्रकारिता मिष्ठान से प्रोफेष्ठान और अब कमीष्ठान तक जा पहुँची है।

सन्दर्भः

1. घोष, अरविन्द - 'वन्देमातरम्' (साप्ताहिक), अप्रैल 12, 1908
2. भट्ट, गौरीष्ठांकर - 'भारतीय नवजागरण प्रणेता और आन्दोलन', पष्ट 11
3. चौहान, ष्ठिवदान सिंह - 'हिन्दी गद्य साहित्य' 1939, पष्ट 32
4. पथिक, देवराज - 'नयी कविता में राष्ट्रीय चेतना', पष्ठ 7
5. द्विवेदी, हजारीप्रसाद - 'हिन्दी साहित्य का उद्‌भव और विकास', पष्ट 257
6. राजगढ़िया, विष्णु - 'जनसंचार : सिद्धान्त और अनुप्रयोग', पष्ट 123
7. राममूर्ति, ष्ठिवकुमार - 'हर क्षेत्र में गूँजे बैंडविथ का बैंड' इण्डिया टुडे 2009, पष्ट 52
8. राजगढ़िया, विष्णु - 'जनसंचार : सिद्धान्त और अनुप्रयोग', पष्ट 125
9. प्रसाद, लोकेष्ठा - 'अनुसन्धान पद्धतिष्ठास्त्र', पष्ट 30
10. दयाल, मनोज - 'मीडिया ष्ठोध', पष्ट 113
11. बल, मीरा रानी - 'राष्ट्रीय नवजागरण और हिन्दी पत्रकारिता', पष्ट 170
12. चन्द्र, विपिन - 'भारत का स्वाधीनता संघर्ष', पष्ट 73
13. बल, मीरा रानी - 'राष्ट्रीय नवजागरण और हिन्दी पत्रकारिता', पष्ट 173
14. 'भारत जीवन' (साप्ताहिक) बनारस, 10 मार्च 1884, पष्ट 3
15. 'समय विनोद' तत्संयुक्त सुदर्ष्ठान समाचार, 1 नवम्बर 1876

बहुजन हिताय बहुजन सुखाय से प्रेरित जयवर्मन सप्तम का सेफौंग अभिलेख

डॉ. महेष्ठा कुमार ष्ठारण*

जयवर्मन सप्तम का ष्ठासन-काल कम्बोडिया के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उसके राज्यारोहण के समय देष्ठा की राजनीतिक अवस्था अच्छी नहीं थी। देष्ठा में गष्ठयुद्ध का बोलबाला था। अत: राजनीतिक परिस्थितियों का अस्थिर होना स्वाभाविक ही था। बाह्य आक्रमणों में चमों के आक्रमण का भय बराबर बना रहता था। अत: बारहवीं ष्ठाताब्दी के अन्तिम भाग में देष्ठा की गिरती हुई परिस्थिति से देष्ठा में सर्वत्र अन्धकार ही अन्धकार था। ऐसी ही परिस्थिति में अपने पिता की मष्ठ्यु के बाद जयवर्मन सप्तम सन् 1181 ई. में गद्दी पर बैठा और उसके आगमन से कम्बोडिया के इतिहास में एक नये अध्याय का श्रीगणेष्ठा हुआ।[1]

अपने बीस वर्षों के ष्ठासन-काल में जयवर्मन सप्तम एक विष्ठाल साम्राज्य की स्थापना कर सकने में सक्षम हुआ तथा कम्बोडिया के साम्राज्य की सीमा पष्ठिचम में बर्मा, पूरब में अनाम और चीन सागर तक, उत्तर में थाईलैण्ड तथा दक्षिण में थाईलैण्ड, कोचीन, चीन तथा मलाया प्रायद्वीप तक विस्तष्ठ किया। वह एकमात्र योद्धा ही नहीं वरन् उसमें ष्ठान्ति-स्थापना, धार्मिक प्रवष्ठत्ति एवं अनेक रचनात्मक कार्य करने के गुण भी थे।[2] एक सुदष्ठ सुरक्षितत दीवार से घिरा हुआ अंकोर थॉम नगर का उसने निर्माण कराया तथा भारतीय मौर्य सम्राट अष्ठोक की ही भाँति उसने लोकहिताय अनेक विश्राम गष्ठहों तथा चिकित्सालयों का निर्माण कराया। उसके अभिलेखों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि उसने एक सौ दो चिकित्सालयों की स्थापना की। प्रस्तुत अभिलेख ऐसे ही एक चिकित्सालय की स्थापना का उल्लेख करता है साथ ही उसके अधिकारीगण, चिकित्सालय की उपयोगी वस्तुएँ, उसके नियम-कानून आदि का विस्तष्ठ वर्णन हम इसमें पाते हैं।

जयवर्मन सप्तम एक महत्त्वाकांक्षी सम्राट था। विजेता, निर्माता एवं कलाप्रेमी होने के साथ-साथ उसमें धार्मिक सहिष्णुता भी विद्यमान थी। वह बौद्ध धर्मावलम्बी होते हुए भी हिन्दू तथा ब्राह्मण धर्म से प्रेम करता था और यही कारण है कि बयोन मन्दिर में उसने अनेक प्रकार की मूर्तियों की स्थापना करवाई थी जिनका सम्बन्ध हिन्दू, ब्राह्मण और बौद्ध धर्म से था। इन्हीं विभिन्न सम्प्रदायों

*पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, स्नातकोत्तर प्राचीन भारतीय एवं एष्ठियाई अध्ययन विभाग, गया कॉलेज, गया (मगध विष्ठवविद्यालय गया) बिहार

से सम्बन्धित मूर्तियों के आधार पर ए.के. कुमारस्वामी ने ऐसा कहा है कि जयवर्मन सप्तम में सभी प्रकार की धार्मिक विचारधाराओं का सम्मिश्रण था।[3]

एक योद्धा के रूप में जयवर्मन सप्तम ने कम्बोडिया की सीमा को अधिकाधिक रूप में बढ़ाया। उसके कलात्मक अभिरुचियों का जीता-जागता स्वरूप आज भी कम्बोडिया में विद्यमान है तथा उसकी धार्मिक सहिष्णुता एवं लोकहिताय कार्यों के प्रमाण भी मिलते हैं जिनसे इस बात की पुष्टि होती है कि वह एक महान सम्राट था।[4]

मेकौंग नदी के किनारे वियंग चन और नौंग खे के बीच सेफौंग नामक एक प्राचीन नगर है जहाँ पर जयवर्मन सप्तम का एक संस्कृत अभिलेख पाया गया है। इस अभिलेख में जयवर्मन सप्तम द्वारा स्थापित एक चिकित्सालय का वर्णन है। इस अभिलेख की जानकारी सर्वप्रथम जी. मैसपेरो ने हमें दी है।[5] एम.एल. फिनौट ने इसे फ्रेंच में अनुवाद किया तथा इसका सम्पादन भी बड़े ही विद्वत्तापूर्ण ढंग से किया है।[6] ए. बाथे[7] ने फिनौंट के अध्ययन को आगे बढ़ाया तथा विस्तृत रूप में इस पर प्रकाश डाला है तथा पारमेटियर[8] और जॉर्ज सोदेस[9] ने इसका और अध्ययन कर लोगों को कई नयी बातों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है और अन्त में डॉ. आर.सी. मजूमदार[10] को वह श्रेय प्राप्त हुआ जिसे किसी ने नहीं पाया। उन्होंने हमारे समक्ष सम्पूर्ण अभिलेख का सम्पादन अंग्रेजी में तथा मूल पाठ का देवनागरी लिपि में किया है। मूल पाठ का अर्थ इनसे नहीं हो सका और उसका अर्थ मेरे द्वारा किया गया है जो पुस्तक रूप में निकट भविष्य में प्रकाशित हो रही है।[11]

हम यह जान चुके हैं कि इस अभिलेख की भाषा संस्कृत है तथा इसमें 48 पद्य निम्न छन्दों में हैं- ष्टलोक - 1, 2, 10 और 41

उपजाति - 3 से 9 और 42 से 47

स्रगधरा - 48

यह अभिलेख पत्थर के एक छोटे टुकड़े पर चारों ओर लिखे गये हैं तथा अध्ययन की सुविधा के लिए हम इस अभिलेख को निम्न 7 खण्डों में विभक्त कर सकते हैं- (1) ईष्टा स्तुति - 1-3, (2) जयवर्मन सप्तम की प्रष्ठांसा - 4-12, (3) जयवर्मन सप्तम द्वारा चिकित्सालय का निर्माण - 13-19 अ, (4) उस चिकित्सालय के अधिकारीगण - 19 ब-26, (5) चिकित्सा की उपयोगी वस्तुएँ - 27-37, (6) चिकित्सा की नियमावली - 38-40, (7) जयवर्मन सप्तम की प्रतिज्ञा और संकल्प - 42-48।

इस अभिलेख के तीनों ओर 24-24 पंक्तियाँ लिखी हुई हैं और चौथी ओर केवल 26 पंक्तियाँ हैं। जिस पत्थर पर अभिलेख उत्कीर्ण है वह अभी काफी अच्छी अवस्था में है पर नीचे की ओर से थोड़ा टूट गया है तथा जिस स्थान पर यह अभिलेख पाया गया है उसका भी राजनीतिक

दृष्टिकोण से काफी महत्त्व है। इससे हमें यह पता चलता है कि बारहवीं शताब्दी में कम्बोडिया के राजाओं की सम्प्रभुता मेकौंग नदी के साथ-साथ वियेंग चन तक थी क्योंकि इससे उत्तर की ओर हमें कोई भी अभिलेख प्राप्त नहीं हुआ है। अतः यह इस बात की पुष्टि करता है कि कम्बोडिया की सीमा उत्तर में वियेंग चन तक ही फैली हुई थी।

इस अभिलेख के अध्ययन से हमें बारहवीं शताब्दी के कम्बोडिया के तत्कालीन धर्म के विषय में विस्तृत रूप से जानकारी प्राप्त होती है। जयवर्मन सप्तम के राज्यारोहण के पूर्व से ही कम्बोडिया में हिन्दू धर्म का प्रचार था जिसकी पुष्टि हमें विभिन्न श्लोकों में हिन्दू देवी-देवताओं के नामों, जैसे- कृष्ण, लक्ष्मी, प्रजापति, दिति एवं दो पुस्तक आयुर्वेद और अथर्ववेद से हो जाती है।

हम यह भी जानते हैं कि जयवर्मन सप्तम एक बौद्ध राजा था। अतः उसके इस अभिलेख में बौद्ध धर्म सम्बन्धी तथ्यों का ही अधिक समावेश हुआ है। इस अभिलेख के प्रारम्भिक श्लोकों में भगवान् बुद्ध का अभिवादन किया गया है और बौद्ध पद (शब्द) काया के लिए मूर्ति (ब्राह्मण) शब्द का प्रयोग किया गया है जिससे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि हिन्दू और बौद्ध धर्म की एकरूपता लाने के लिए ही ऐसा प्रयोग हुआ होगा। हम यह भी जानते हैं कि उस काल में बौद्ध धर्म का ब्राह्मण धर्म के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था और भगवान् बुद्ध को ब्राह्मण त्रिमूर्ति में स्थान मिला था।

भैषज्य गुरु नामक एक ईष्टवर का इस अभिलेख में तीन बार नाम (श्लोक 2, 16 और 17) आता है तथा इनके विशेषण दो बोधिसत्व हैं- सूर्यवैरोचन और चन्द्रवैरोचन जिनका भी दो बार उल्लेख (श्लोक 3, 12) हुआ है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि केवल इसी चिकित्सालय में उनका उल्लेख नहीं है वरन् उस काल में दूसरे चिकित्सालयों में भी उनका उल्लेख किया जाता था।

भगवान् बुद्ध के भी तीन विशेष नामों का उल्लेख हमें (श्लोक 2, 16, 18) जिन, मुनीन्द्र (3) और सुगत (16, 17) के रूप में मिलते हैं पर हमें दूसरे भी बौद्ध पद जैसे कश्चा (46), प्राणिधान (46), कुशल (47), अकुशल (46), दान (6), विशारद 914), क्लिष्ट (6), ऋद्धि (10) आदि मिलते हैं।

यह एक ध्यान देने वाली बात है कि इस अभिलेख के प्रथम श्लोक में ही एक साथ महायान बौद्ध के तीन कठोर शब्द जैसे भावाभाव, द्वय अद्वय और निरात्मक का प्रयोग हुआ है। यद्यपि जयवर्मन सप्तम बौद्ध धर्म का अनुयायी था पर वह अन्य धर्मों की किसी भी प्रकार की उपेक्षा नहीं करता था जिसका प्रमाण हमें शैव धर्म के प्रचलन से मिल जाता है।

नमो बुद्धाय निर्म्माण धर्म्म सम्भोग मूर्त्तये।

भावाभाव द्वयातीतो द्वायात्मा यो निरात्मकः॥1॥

बुद्ध को नमस्कार है जो निर्माण करने वाले धर्म के सम्भोग की मूर्ति हैं। भाव और अभाव दोनों से परे हैं और द्वायात्मा हैं, निरात्मा हैं।

यहाँ मूर्ति ष्ठाब्द बौद्ध पद काया के लिए प्रयुक्त हुआ है। उस समय कम्बोडिया में ऐस ष्ठाब्दों का प्रयोग बहुधा हुआ करता था जिसकी पुष्टि हमें ता प्रौम अभिलेख के ष्ठलोक 1 और 5 में वपु और भक्ति ष्ठाब्दों से होती है। ये दोनों ष्ठाब्द काया और श्रद्धा के लिए प्रयुक्त होते हैं।[12]

भैषज्य गुरु वैदूयर्य प्रमेराजजिन्नमे।

क्षेमारोग्याणि जन्यन्ते येन नामापि श्रष्टवताम्॥2॥

दवा के गुरु वैदूयर्य मणि के समान आभा वाले राजा जिन को नमस्कार है जिनके नाम सुनने पर क्षेम और आरोग्य पैदा होते हैं।

वैदूयर्य ष्ठाब्द के बदले फिनौट ने वाइदूर्य कहा है तथा उन्होंने ही जन्यन्ते को जायन्ते कहा है। भैषज्य गुरु का दूसरा रूप तथागत भैषज्य है जिनकी पूजा आज जापान में होती है और जिन्हें चिकित्सा विज्ञान का सर्वप्रथम ष्ठिक्षक कहा जाता है।[13]

श्री सूर्यवैरोचन चण्डरोचिः

श्री चन्द्रवैरोचन रोहिणीष्ठाः

रुजान्धकारायहरौ प्रजानां

मुनीन्द्र मेरोर्जयता उपान्ते॥3॥

श्री सूर्यवैरोचन सूर्य के समान हैं, श्री चन्द्रवैरोचन चन्द्रमा के समान हैं। ये दोनों बोधिसत्व प्रजा के दुख रूपी अन्धकार को दूर करते हैं तथा मेरु पर्वत के समान हैं।

किसी-किसी पाठ में हमें चण्ड के बदले चन्द मिलता है। फिनौट ने अपने पाठ में उपान्ते के बदले उहन्ते कहा है। सूर्यवैरोचन और चन्द्रवैरोचन - ये दोनों भैषज्य गुरु के विष्ठोष नाम हैं और जिनकी पूजा चीन, तिब्बत और जापान में आज भी होती है।[14] मुनीन्द्र का अर्थ ऋषियों का राजा होता है जो बुद्धदेव स्वयं हैं।[15]

आसीन्नष्ठष्ठ श्री धरणीन्द्रवर्म्मः

देवात्मजष्ठा श्री जयवर्म्मदेवः।

जातो जयादिव्य पुरेष्ठवरायां

वेदाम्बरैकेन्दु भिराप्राराज्यः॥4॥

श्री धरणीन्द्रवर्मदेव का पुत्र श्री जयवर्म्मदेव हुआ जो जयादित्यपुर नगरी की रानी का पुत्र था और जिसने 1103 ष्ठाक (1181 ई.) में राज्य प्राप्त किया।

फिमनेक अभिलेख में भी ठीक इसी प्रकार का एक उद्धरण हम पाते हैं, जिसके पाँचवें ष्ठलोक में 'वेदाम्बरैकेन्दुभिराप्तराज्यां' लिखा हुआ है। उस काल में वेद चार थे क्योंकि हम प्रसत तौर अभिलेख के 'वेदेष्ठाःचतुभिरः' से ऐसा जानते हैं तथा स्डॉक कॉक थॉम अभिलेख के 123वें ष्ठलोक में भी जॉर्ज सोदेस चार ही वेद को बतलाते हैं। इस क्रम में जयवर्मन सप्तम का राज्यारोहण 1104 ष्ठाक (1182 ई.) ही होगा किन्तु प्रे रूप अभिलेख के प्रथम ष्ठलोक में जॉर्ज सोदेस केवल तीन ही वेदों को मानते हैं जिससे 1103 हुआ। इसकी पुष्टि हमें कमलेष्ठवर भट्टाचार्य के लेख से भी मिलती है।[16]

निष्ठेष राजन्य ष्ठिरोवतंस -

पादाम्बुजस् संथाति संहृतारिः।

पर्य्य ग्रहीत सदगुण रत्न भूमां

यत्कीर्ति होरां वसुधांगनां॥5॥

सभी राजाओं के सिर के अलंकार रूप कमल उसके पैरों पर था और उसने अपने ष्ठात्रु को युद्ध भूमि में एक साथ ले आया। उसके पास अच्छे गुण, रूप, रत्न, अलंकार बहुत था तथा जिसने पष्ठ्वी की नारियों को अधिकष्ठ किया जो उसकी कीर्ति को धारण करती हैं। तीसरी पंक्ति के अन्त में भूमि ष्ठाब्द है जिसे फिनौट ने भूमान बतलाया है, पर आर.सी. मजूमदार ने भी इसे भूमान ही कहा है। 'य' ष्ठाब्द जयवर्मन सप्तम के बदले आया है और आगे के 16वें ष्ठलोक तक हम इसे ही पाते हैं किन्तु 17वें-18वें ष्ठलोकों में 'य' के बदले हम 'स्र' देखते हैं।

सदा मुदा वर्द्धित दानवारिस्

सदान वष्ठिद्ध प्रिय संपदाद्यः

नष्ट याह्वैः क्लिष्ट सुरारि कान्तो

यः कष्ठ्ण कल्पोऽप्य वदात वर्णः॥6॥

जो नित्य खुष्ठी से दानों का बाढ़ लगा दिया तथा सदा नये धन से प्रिय सम्पत्ति से धनी जिसने युद्धों से कठोर दैत्य राज्य को नष्ट किया, वह रंग में थोड़ा काला होकर भी उनके वर्ण का

है। यहाँ एक दूसरा अर्थ भी हो सकता है कि वह भगवान् कष्ण के समान है जो काले होते हुए भी उजले रंग वालों के समान थे और उन्होंने अपने सभी ष्ात्रुओं को खाक में मिला डाला - उसी प्रकार जयवर्मन देवराज थे।[17]

योऽभ्यार्थितां भूपति भिर्दुरायां

लक्ष्मीमुपेक्ष्य स्वयम् भ्युपेताम्।

दिक्षु दुतां हल्यादया तिस्म कीर्तिम्

अहो विचित्रा रुचिरिन्द्रियाणाम्॥7॥

जिसने राजाओं से प्रार्थित लक्ष्मी को अपमान करके और जो स्वयं ही उसके पास आई, अपने तईं सभी दिष्ठाओं में ष्ठीघ्र ही कीर्ति को प्रसन्नतापूर्वक फैलाया, इन्द्रियों की रुचि विचित्र है - इस बात पर कवि आष्ठचर्य प्रकट करते हैं। किसी-किसी पाठ में दूसरी पंक्ति के स्वयम् के बदले केवल यम लिखा हुआ है।

यं विक्ष्य द्याम्ना विजिते पि नाथे

बुद्धेव कान्त्या विजितच्य कामम्

ष्ठुचन्त्य जन्त्यो निज नाम सार्थं

वन्दी कष्ठारि प्रमदां प्रयुक्तः॥8॥

जिसके तेज को देखकर वे स्त्रियाँ जिनके पति जयवर्मन द्वारा हरा दिये गये हैं वे भी उसके मनोहर रूप पर आसक्त हो गयी हैं तथा अपने दुखों को भुलाकर वे उसे कामदेव का रूप समझती हैं।

यहाँ इस बात की पुष्टि होती है कि जयवर्मन सप्तम बहुत ही सुन्दर रहा होगा जिसके कारण ही ष्ठात्रुओं की पत्नियाँ भी उस पर आसक्त हो रही थीं। फिनौट ने चतुर्थ पंक्ति में वन्दी ष्ठाब्द को वन्धी कहा है।

पुण्या युषः क्षीणतया युगेन्त्ये

क्षयंगतायां क्षवत् प्रजायाम

प्रजापतिः प्राग्युगव द्वितेने

योऽभ्युत्थिति पूर्ण वष्ठां समष्ठाय॥9॥

पुण्य देने वाली आयु है जिसकी, उसके समाप्त होने पर कलियुग में प्रजा के क्षय के समान

क्षीण होने पर, प्रजापति के समान पुराने युग के समान जिसने पूर्व धर्म स्वरूप बैल को विष्ठोष रूप से बढ़ाया फिर उसने धर्म का अभ्युत्थान किया।

मनुस्मष्टि में **चतुस्पात सकलो धर्मः सत्य चैव कष्टे युगे, इतरेष्वा गमाद धर्मः पादष्ठास् त्वारोपितः** - यह ष्ठलोक है जिसका अर्थ यह है कि कष्ट युग में धर्म चार पद वाले हैं और यही बात सत्य के सम्बन्ध में भी है। दैविक न्याय एक बैल के समान है।[18]

बुद्धया स्वग्गींकष्टां पष्टवी मत्वा मरण दूषिताम्।

मर्त्यानाम मरत्वाययोऽविष्ठाद भेषजामष्टम्॥10॥

पष्टवी को मरण से दूषित देखकर जिसने अपनी ष्ठाक्ति (धन) से स्वर्ग बनाया तथा जिसने मरने वाले को अमरत्व प्रदान करने के लिए अमष्ट तुल्य दवा का आदेष्ठा उपदेष्ठा दिया।

किसी-किसी पाठ में प्रथम पंक्ति के बुद्धया ष्ठाब्द के बदले ऋद्धया ष्ठाब्द है जो गलत है।

पुष्यं कष्टि कष्टी कष्ट्य पूर्णांग योऽकरोद वष्टभ।

राजवैद्याचिकित्यस्यादि भंगन त्रियुग दोषातः॥11॥

जिसने पूर्ण रूप से प्रयत्नष्ठील होकर धर्म रूप बैल को पूर्णांग किया है और प्रयत्नवान बनाया तथा राजवैद्यों से न चिकित्सा करने योग्य युगों के तीन पैर टूट चुके थे, उन्हें पूरा कर चार पैर वाले धर्म बैल का निर्माण किया था। फिनौट ने द्वितीय पंक्ति में राज ष्ठाब्द के बदले राज्य ष्ठाब्द कहा है। यह कलियुग है और इस काल में कम्बोडिया में इसका आगमन हो चुका था और राजा ने स्वयं प्रयास करके दूसरे भी युगों को उसी काल में ले आया।[19]

जित्वान्य गोपति वष्टुं स्वैरन् त्रिभुवनांगने।

जष्टम्भते निनन्धीरं वष्टो यत्पुस्व ली कष्टुः॥12॥

अन्य राजाओं के बैलों को जीतकर जो त्रिभुवन रूप आंगन में अपनी इच्छा से और जो मोटा ताजा किया गया बैल (धर्म) वह धीरे-धीरे डकारता हुआ जम्हाई लेता है। अप्रत्यक्ष रूप से स्वयं जयवर्मन सप्तम की वीरता का वर्णन है। वह स्वयं एक वष्टभ के समान महान ष्ठाक्तिष्ठाली था जो स्वच्छन्द रूप से तीनों लोकों में विचरण कर सकता था क्योंकि वष्ट का अर्थ ष्ठाक्ति विष्ठोषतः सैनिक ष्ठाक्ति से है।

दोहिनान्देह रोगो यन्मनोरोगोरुजतराम्।

राष्ट्रः दुखं हि भतष्ठान्दुखः दुखन्तुनात्मनः॥13॥

देह वालों को देह का रोग और रोगियों को मन का रोग है, राजाओं का जो राष्ट्र दु:ख है – यह दु:ख है कि आत्मा को काई दु:ख नहीं है। विष्ठोषत: इसका यह अर्थ हो सकता है कि प्रजा को जो भी कष्ट होता है वह अधिक कष्टदायक है क्योंकि प्रजा को जो कष्ट होता है वह कष्ट केवल प्रजा तक ही सीमित नहीं रहता। यह ष्ठलोक इस अभिलेख की आत्मा है क्योंकि प्रजा और राजा के बीच के सम्बन्ध को बतलाता है।

आयुर्व्वेदास्त्रवेदेषु वैद्यवीरेव्विष्ठारदै:।

योऽधातपद राष्ट्ररुजो रूजारीन भेषजायुधै:॥14॥

वैद्यों में वीर विष्ठारद लोगों द्वारा जो आयुर्वेद और अस्त्र (सैन्य संचालन) के दक्ष है जिसने राष्ट्र रोगों के रोग रूप ष्ठात्रुओं को दवा रूप अस्त्रों से मार डाला।

जयवर्मन के ष्ठासन–काल में चिकित्सा विज्ञान का बहुमुखी विकास हुआ था साथ ही सैन्य ष्ठाक्ति का भी संगठन उच्च कोटि का था क्योंकि जयवर्मन यह जानता था कि प्रजा का दु:ख राजा का दु:ख है। अत: प्रजा के किसी भी प्रकार के ष्ठारीरिक दु:ख को दूर करने के लिए उसने चिकित्सालयों की स्थापना की जिसमें उच्च कोटि के वैद्य नियुक्त किये जाते थे जो प्रजा के ष्ठारीरिक कष्टों के निदान के लिए सेवा करते रहते थे। जयवर्मन यह नहीं चाहता था कि उसकी प्रजा को किसी भी प्रकार का ष्ठारीरिक कष्ट हो।

सर्व्वेषामपराधाान् यस् सर्व्वत: परिष्ठोधयन्।

युगापराधे न रूजाम् पराधान् व्यष्ठोधयत्॥15॥

जिसने सभी के अपराधों को सभी प्रकारों से ष्ठोधकर युग के अपराध में रोग के अपराधों को विष्ठुद्ध किया।

जयवर्मन सप्तम अपनी प्रजा की भलाई के लिए उसके सारे दोषों को दूर करने के लिए तैयार रहता था अत: उसने रोग के दोषों के साथ–साथ समय के भी दोषों (बुराइयों) को निर्मूल किया।

सारोग्यष्ठालै परितो भैषज्य सुगतं व्यधात्।

सार्द्धज्जिनौर साम्याम् यस् सदा ष्ठान्त्यै प्रजारूजान्॥16॥

उसने भैषजय सुगत की प्रतिमा एक चिकित्साय के साथ अपने साम्राज्य के चारों ओर बनवाया तथा विजेता के दो लड़कों की भी प्रतिमूर्ति बनवाया। उसने प्रजा की तकलीफों को दूर करने के लिए ही ऐसा किया। किन्तु इसे हम इस प्रकार भी जानते हैं कि आरोग्यष्ठाला सहित जिसने

सभी ओर से दवा रूप बुद्ध प्रजा के रोगों को बनाया दो औरस 'जिन' सहित जिसने सदा प्रजा के रोगों की ष्ठान्ति के लिए किया।

किसी-किसी पाठ की द्वितीय पंक्ति में वर्णित सार्दभ के बदले साद्धन प्रयुक्त हुआ है। ताप्रौम अभिलेख के अनुसार हम यह जानते हैं कि जयवर्मन सप्तम ने अपने साम्राज्य में 102 चिकित्सालयों का निर्माण कराया था जिसकी पुष्टि हमें उसी अभिलेख के 17वें ष्ठलोक में मिलती है- 'आरोग्यष्ठाला विषये विषये द्वेष्ठातन् तथा सप्तष्ठातानि अष्टानवतिस कार पितान् सुराः।।'

स व्यधादिद आरोग्यष्ठालं ससुगतालयम्।

भैषज्य सुगतञ्चेह देहाम्बर द्ददिन्दुना॥17॥

इस आरोग्यष्ठाला को उसने बुद्धष्ठाला सहित बनाया तथा दवा रूप बुद्ध को यहाँ देहरूप आकाष्ठा में हृदया रूप चन्द्र से प्रकाष्ठित किया। जयवर्मन सप्तम ने 1108 ष्ठाक में एक चिकित्सालय को बनवाया जिसमें सुगत और भैषज्य सुगत के लिए उसने एक मन्दिर का भी निर्माण कराया।

प्राचीन काल में मन्दिरों के साथ-साथ वहाँ रहने के लिए निवास-स्थान भी बनवाया जाता था जिसका उल्लेख हमें अपने देष्ठा में भी मिलता है। भारतीय संस्कष्ठि का प्रसार सुदूर पूर्व के देष्ठों में बहुत प्राचीन काल से ही हुआ था। अतः जयवर्मन सप्तम ने भारतीय परम्पराओं के अनुसार ही कम्बोडिया में मन्दिरों के साथ-साथ रहने के लिए निवास स्थान का भी निर्माण करवाया।

सोऽतिष्ठिपदिमौ चात्र रोगिणां रोग द्यातिनौ।

श्रीमन्तो सूर्यचन्द्रादि वैरोचन जिनात्मजौ॥18॥

उसने यहाँ रोग को दूर करने वाले घर हैं, उसकी भी स्थापना की जो श्रीमन्त लोग सूर्य चन्द्र आदि वैरोचन जो 'जिन' के पुत्र हैं।

फिनौट ने प्रथम पंक्ति में तिष्ठिपद को सही माना है पर किसी-किसी पाठ में तिष्ठ पद ही लिखा हुआ है। 'ता प्रौम' अभिलेख के प्रथम पद में जिनात्मज ष्ठाब्द है।

चिकित्सा अत्र चत्वारो वर्ण द्वौभिषजौ योः।

पुमानेकः स्त्रियो च द्वे एकष्ठाः स्थितिदायिनः॥19॥

यहाँ चारों वर्ण का इलाज होता है। उसमें वर्ण दो हैं और दोनों के वैद्य दो हैं- एक पुरुष और एक स्त्री तथा पालन करने वाले दोनों के एक-एक हैं।

सम्राट अष्ठोक के ही समान यहाँ पर भी जयवर्मन सप्तम ने 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' की भावना से उत्प्रेरित होकर इस प्रकार का निर्देष्ठा दिया है। यह तो सम्प्रभु की लोगों के प्रति अपार

स्नेह का भाव दिग्दर्शित करता है।

अब हम इस अभिलेख के 42वें श्लोक से प्रारम्भ करेंगे क्योंकि 20 से लेकर 41 तक चिकित्सालय के अधिकारीगण, उसकी उपयोगी वस्तुएँ तथा चिकित्सालय की नियमावली का ही सन्दर्भ है। 27 से लेकर 41 तक का श्लोक केवल दवा का ही निर्देश देता है बल्कि चिकित्सालय में रहने वाले रोगियों के भोजन और आवश्यक सामानों का भी संकेत देता है जिसमें चावल, मधु, तिल, मक्खन, चीनी, सरसों, मसाले, मोमबत्ती, वस्त्र आदि उल्लेखनीय हैं। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण देता है कि चिकित्सालय में निर्धनों के लिए ये सब आवश्यक रूप से राज्य की ओर से दिये जाते थे।

वदन्य वष्ट्रा ग्रसरोऽपि राजा

प्रजार्थं चिन्ताजनितार्धिभावः।

भूयोऽप्यसौ याचत इत्यजस्त्रं

प्रदित्सतः कम्बुजराज सिंहासन।।42।।

दाता राजाओं के समूह के अग्रेसर राजा प्रजा के लिए चिन्ता से उत्पन्न याचक भाव वाला, फिर भी उसने अनवरत याचना की – उन कम्बुज के सिंहोपम राजाओं से जो प्रदान करने की इच्छा वाले थे।

प्रथम पंक्ति में फिनौट वदन्य के बदले वरान्य कहते हैं। जे.एस. स्पेयर ने इत्यजस्त्र में इति को अलग से ही स्वीकार किया है तथा उन्होंने यह कहा है याचत और इत्यजस्त्र के बीच इति ही उपयुक्त होगा।

कष्टं मयैतत् सुकष्टं भवद्दिस्

संरक्षजीयं भवदीय व्येतत्।

पुण्यस्य कर्तष्ट फलभाक प्रकष्टं

संरक्षिते व्युकष्टमिदंहि वष्ट्रैः।।43।।

मेरे द्वारा किये गये इस धर्म कार्य को आप लोग सम्यक् रक्षा करें, यह कार्य आपका है क्योंकि पुण्य करने वाले के उत्तम फल को संरक्षक भी पाता है, यह बात बड़ों ने कही है।

यो राजाधान्यान्निहितं प्रभुत्वे

मंत्री स एवात्र नियोजनीयः।

न प्रेषितव्या इह कर्म्म काराः

करादिदानेषु न चान्य कार्य्ये।।44।।

जो राजधानी में उच्च पद पर नियुक्त हो वही यहाँ मंत्री नियुक्त हो। यहाँ कर आदि देने में और अन्य कार्यों में नौकर नहीं हो। इसका दूसरा दृष्टिकोण यह भी है कि जयवर्मन सप्तम उन गरीब प्रजा से किसी प्रकार का कर लेने से मना करता है। साथ ही वहाँ पर किसी भी प्रकार से बलपूर्वक कोई भी कार्य नहीं कराया जाय - यह राजा का निर्देष्ठा है।

प्रत्यग्रदोषा अपि देहिनस्ते

न दण्डनीया इह ये प्रविष्टाः।

ते दण्डनीयास्तु न भर्षनीया

ये प्राणिहिंसा निरता इहस्था।।45।।

वे ष्ठारीरधारी जो यहाँ प्रविष्ट हैं और जो नये दोष वाले हैं, उन्हें दण्ड न दिया जाय लेकिन वैसे लोग जो प्राणियों को हानि पहुँचाने के लिए दष्ठ संकल्प लिये हुए हैं उन्हें सजा दिया जाय और उन्हें क्षमा किसी भी तरह नहीं किया जाय।

यह देखा जा चुका है कि जयवर्मन सप्तम बड़ा ही धार्मिक सहिष्णु वाला था। उसने अपने साम्राज्य में लोकहित के लिए इसी प्रकार के कार्यों को किया। उसके आदेष्ठा का पालन किया जाता था और वहाँ भी जनता अपने राजा द्वारा दिये गये हर आदेष्ठा को सहर्ष पालन करती थी। इससे हर किसी को लाभ था तथा प्रत्येक का जीवन सुखमय था।

जगद्धितात्यर्थ तष्ठस् स राजा

पुनर्वमाषे प्रणिधान मेतत्।

भवाब्धिमग्नाञ्जनतां समस्ता

मुन्तार येयं सुकष्ठेन तेन।।46।।

विष्ठव-कल्याण की अतिष्ठाय तष्टणा वाला वह राजा फिर बोला- उस धर्म से संसार रूप समुद्र में डूबी हुई सभी जनता को पार उतार दूँगा।

'अर्थतष्ठस्' ष्ठाब्द को आर.सी. मजूमदार ने कष्ठस ष्ठाब्द के बदले लिया है। कष्ठा एक बौद्ध पर है।[21] प्रणिधान या प्रणिधि का अर्थ प्रार्थना से है जो महायान बौद्ध सम्प्रदाय का ष्ठाबद है।[22]

ये कम्बुजेन्द्राः कुष्ठालानुरक्ता

इमां प्रतिष्ठां मम रक्षितारः।

ते साव्वयान्तः पुर मन्त्रि मित्रा

निरामयां मोक्षपुरं लभेरन्।।47।।

कम्बुज के राजा जो कुष्ठाल हैं, अनुरक्त हैं, वे मेरी इस प्रतिष्ठा को बचावें। वे अपने कुल (वंष्ठा) सहित हवेली, मंत्री, मित्र सब के साथ नीरोग होकर मोक्षपुर लाभ करें। यहाँ पर जयवर्मन सप्तम ने कम्बुज के भावी राजाओं के लिए मंगल कामना की है। मानव जीवन का मूल प्रयोजन मोक्ष की प्राप्ति है जिससे जन्म-मरण के घोर कष्टों से मुक्ति की प्राप्ति होने वाले को इस बन्धन से छुटकारा मिल जाता है। हिन्दुओं की ऐसी धारणा है कि मानव को 84 लाख योनियों में भटकना पड़ता है और अन्त में मानव की काया धारण करना पड़ता है। अगर इस मानव जीवन का उपयोग सत्कर्म में लगाया जाय तो यह जन्म-मरण का भय समाप्त हो जायेगा। इसी कामना से प्रेरित होकर जयवर्मन सप्तम ने कम्बुज के होने वाले राजाओं के लिए मंगल कामना की है।

किसी-किसी पाठ में कम्बुजेन्द्राः के बदले केवल कम्बुजेन्द्र ही है।

नाना दिव्यांगनाभिर्विरचित रतिभिर्मूरिदेव्योष भोगै

र्दिव्ये युर्दित्यदेहा दिविदिति दनुजां स्तेजसातेजयन्तः।।

दार्द्यन्नीत्वा समन्तादचलित मनिष्ठां रक्षया स्वः प्रयागे

ये निश्रेणी करिष्ठ्यन्त्य कुष्ठालदलनं पुण्यमतेन्य दीयम्।।48।।

अनेक देवों की स्त्रियाँ या सुन्दरी नारियों द्वारा विरचित रतियों से, अधिकाधिक सुन्दर उपभोगों से सुन्दर ष्ठारीर पाकर स्वर्ग में तेज से दैत्यों को प्रकाष्ठित करते हुए ष्ठोभित हों। दष्ठ्ता से लेकर सब ओर से अचल होकर हर समय रक्षा से स्वर्ग यात्रा में जो अकुष्ठाल को दूर करने वाले हैं - मेरे इस पुण्य कार्य की रक्षा करें - वे स्वर्गीय सुख भोग करें।

सन्दर्भ सूचीः

1. चटर्जी, बी.आर. : 'इण्डियन कल्चरल इन्फ्लुएंस इन कम्बोडिया', कलकत्ता, 1963, पष्ट 196
2. पुरी, बी.एन. : 'सुदूर पूर्व में भारतीय संस्कष्ति और उसका इतिहास', लखनऊ, 1961, पष्ट 254
3. कुमारस्वामी, ए.के. : 'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन ऐण्ड इण्डोनेष्ठियन आर्ट', लन्दन, 1931, पष्ट 72
4. मजूमदार, आर.सी. : 'हिन्दू कौलोनीज इन द फार ईस्ट', कलकत्ता, 1963, पष्ट 202
5. बुलेटिन इकोले फ्रांसेसे इक्सट्रेमे ओरियन्ट (जर्नल), हनोई, खण्ड-3, 1903, पष्ट 1 से 16
6. वही, पष्ट 18 से 33

7. वही, पृष्ठ 460 से 466

8. वही, खण्ड-16, 1916, पृष्ठ 72

9. वही, खण्ड-40, 1940, पृष्ठ 344

10. इन्सक्रिप्शान्स ऑफ कम्बुज, कलकत्ता, 1953, पृष्ठ 402

11. शरण, महेश कुमार : कम्बोडिया के संस्कृत अभिलेख (प्रेस में)

12. महावस्तु 1, 237; दिव्यावदान 95.13

13. बुलेटिन इकोले फ्रांसेसे इक्सट्रेमे ओरियन्ट (जर्नल), हनोई, खण्ड-3, 1903, पृष्ठ 33

14. लेखक को इसकी सूचना प्रो. अची टुल्कू, प्राचीन भारतीय एवं एशियाई अध्ययन विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया ने दी थी। देखिए - अभिधर्म कोष - 3, 48 और आगे।

15. ता प्रौम अभिलेख, श्लोक 5, 35; प्रहखन अभिलेख, श्लोक 158

16. बुलेटिन इकोले फ्रांसेसे इक्सट्रेमे ओरियन्ट (जर्नल), पेरिस, 1961, पृष्ठ 68

17. ता प्रौम अभिलेख, श्लोक 87; प्रहखन अभिलेख, श्लोक 111

18. मनुस्मृति 1, 81; प्रसत तौर अभिलेख, श्लोक-6

19. देखिये श्लोक-9 से सम्बन्धित टिप्पणी

20. स्पेयर, जे.एस. : 'संस्कृत सिन्टैक्स', लीडेन, 1886, अध्याय 495, पृष्ठ 383

21. मजूमदार, आर.सी. : 'इन्सक्रिप्शान्स ऑफ कम्बुज', फिमेनक अभिलेख, श्लोक-64

22. नगाओ : इण्डेक्स टू दि महायान सूत्रालंकार; देखिए- वागीहर, मू.- संस्कृत-चाइनीज-जापानीज शब्दकोष।

ऋग्वेदीय अद्वैतवाद

डॉ. स्वेजा त्रिपाठी*

इन्द्र मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिष्ठ्वानमाहुः॥[1]

मानव जाति की यह दिव्य वाणी अपने अभिप्राय को प्रकट करने में पूर्ण समर्थ है। परम सत्य का स्वरूप एकल एवं अभिधानबहुल है। उस परम सत्ता के अभिधान में नानात्व दिखलाई पड़ता है। उसे कोई इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण आदि नामों से भले पुकारे, परन्तु इससे उसमें कोई अन्तर नहीं आता है, कारण कि तत्तद् देवताओं के रूप में वह अवस्थित है। इस सष्टि का मूल नियामक वही है। सब कुछ उसी से उत्पन्न हुआ है। इस भावना की पुष्टि पुरुषसूक्त[2] के द्वारा होती है। यह सष्टि पुरुषमय है। पुरुष ने सबको उत्पन्न किया है। सबमें समाहित है। वह तीनों लोकों में व्याप्त होकर इनसे परे भी है। अमरता का स्वामी है। सबके द्वारा पुकारे जाने में सर्वहुत है। भेद दष्टि से देखने पर अलग-अलग देवताओं का आह्वान प्रतीत होता है, परन्तु उनके माध्यम से वही पुकारा जाता है। वाजसनेयी ष्ठाखा के अनुयायी भी कहते हैं कि यह जो अलग-अलग देवताओं के लिए यजन करने की बात कही गयी है, इससे कोई अन्तर नहीं, क्योंकि उसी की विसष्टि है[3], क्योंकि वही सब देवताओं के रूप में अवस्थित है। ऐसा होने पर भी वह अनिर्ज्ञात स्वरूप वाला, सबका स्वामी एवं स्रष्टा है। अमरता तथा मष्त्यु उसकी छायासदष्ठा है। उसके अतिरिक्त कोई दूसरा देवता नहीं जो सभी पदार्थों के चारों ओर अवस्थित हो, जो सभी को उत्पन्न करता हो या सभी के अस्तित्व का कारण हो। इतना ही नहीं, वह सभी देवताओं के ऊपर परमेष्ठवर है। दष्ठाम मण्डल का प्रजापतिसूक्त[4] स्पष्ट कहता है-

हिरण्यगर्भः समवर्ततााग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।

तथा **यः प्राणतो निमिषतो महित्वेक इद्राजा जगतो बभूव।**

यो देवेष्वधि देव एक आसीत्।

एवं **प्रजापते न तवदेतान्यन्यो विष्ठवा जातानि परि ता बभूव।**

---

*प्रवक्ता - संस्कष्त, राजीव गाँधी पी.जी. कॉलेज, नौतनवा (महराजगंज)

यही वह मूल तत्त्व है जो नामरूपात्मक जगत् की उत्पत्ति से पहले अपनी स्वधा के सहारे साँस लेता है। ऋग्वेद के प्रख्यात नासदीयसूक्त[5] में इसका स्पष्ट उल्लेख किया गया है-

आनीदवातं स्वधया लदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चन आस।

तथा **तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्।**

ध्यानार्ह है कि 'तुच्छ्य आभु' अज्ञान या माया ही है जिससे वह परम तत्त्व अपिहित रहता है।

आचार्य यास्क के मत में इस जगत् के मूल में एक ही चेतन ष्ठाक्ति विद्यमान है जो ईष्ठवर पदाभिधेय है, अद्वितीय एवं महान् ऐष्ठवर्य-सम्पन्न है-

'महाभाग्याद् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते।

एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।'[6]

इस प्रकार सभी देवगण उस एक परमात्म ष्ठाक्ति के भिन्न-भिन्न कार्य रूप ष्ठाक्तियों` प्रतीक हैं। यास्क के उपर्युक्त कथन का समर्थन आचार्य ष्ठौनक भी बष्टद्देवता में करते हैं।

भवद्भूतस्य भव्यस्य जङ्गमस्थावरस्य च।

अस्यैक सूर्यमेवैके प्रभवं प्रलयं विदुः।।

असतष्ठच सतष्ठचैव योनिरेषा प्रजापतिः।

यदक्षरं च वाच्यं च तथैतद् ब्रह्म ष्ठाष्ठवतम्।।

कष्ठत्स्नेष हि त्रिधात्मानं एषु लोकेषु तिष्ठति।

देवान्यथायथं सर्वान् निवेष्ठय स्वेषु रष्ठिमषु।।[7]

भूत, भविष्य एवं वर्तमान कालों में जो जङ्गम एवं स्थावरात्मक जगत् रहता है, उसकी उत्पत्ति एवं विनाष्ठा का कारण यही है। सत्, असत् द्विविध प्रकष्ठि वाले पदार्थों का यही मूल स्रोत है तथा यह ष्ठाष्ठवत ब्रह्म अनष्ठवर एवं वाणी का विषय है। यद्यपि यह स्वभावतः निर्वचनीय एवं अचिन्त्य है अर्थात् मन तथा वाणी की पहुँच से परे है, तथापि वेदान्त वाक्यों के द्वारा इसका ही निरूपण किया जाता है। वह जागतिक कर्मसंचालन के लिए अपने को त्रिधा विभक्त कर तथा समस्त देवताओं को अपने में समेटे हुए तीनों लोकों में स्थित है।

पाष्ठचात्य विद्वानों ने वेदों में देवतासम्बन्धी विचारधारा के कई विकासक्रम गिनाये हैं। उनका पहला मत है कि वेदों में बहुदेववाद (पॉलिथीज्म) का वर्णन है। उनके मत में वैदिक ऋषि

प्राकृतिक पदार्थों एवं दृश्यों को देखकर भय के कारण उन सब की देवताओं के रूप में स्तुति करता है। कालान्तर में अपने मानसिक विकास के पश्चात् इन बहुदेवताओं के अधिपति के रूप में एक प्रधान देवता की कल्पना की जो एकेश्वरवाद (मोनोथीज्म) कहलाया। इस विकासक्रम का अगला सोपान सर्वेश्वरवाद (पैन्थीज्म) है जिसमें सब कुछ ईश्वरमय है, ऐसा माना गया। इस विचारधारा का उन्मेष दशम मण्डल में वर्णित पुरुषसूक्त के आधार पर माना गया जिसे पाश्चात्य विद्वान् अर्वाचीन मानते हैं। इसके एक अगले रूप की कल्पना प्रो. मैक्समूलर ने की है। इनके अनुसार वैदिक ऋषि किसी विशिष्ट देवता के वर्णन काल में उसे ही सर्वव्यापक, स्रष्टा एवं संसार का परम हितकारी मानता है। ऐसा वर्णन इन्द्र तथा वरुण आदि सभी देवताओं के बारे में मिलता है। मैक्समूलर ने इस भावना को हेनोथीज्म, कथेनोथीज्म नाम दिया है।[8]

परन्तु भारतीय धारणा के अनुसार पाश्चात्यों की यह देवता तथा धर्मसम्बन्धी विकासक्रम की योजना नितान्त भ्रामक एवं निराधार है। तात्त्विक चिन्तन करने वाले ऋषियों को मानसिक दृष्टि से अविकसित कहने से पाश्चात्य विद्वानों की कुण्ठा दृष्टिगत होती है। हमारे यहाँ प्राकृतिक अचेतन पदार्थों में चेतनाभिमानी देवता विद्यमान है इसकी कल्पना कर ही उसमें देवत्व की भावना की गयी है। 'अभिमानिव्यपदेशास्तु...'[9] सूत्र में भगवान् बादरायण ने इसकी उद्भावना की है।

ऋग्वेद सर्वव्यापी, सर्वात्मक ब्रह्म तत्त्व का ही निरूपण करता है। यही कारण सत्ता कार्य वर्गों में अनुप्रविष्ट होकर भिन्न-भिन्न आकारों में परिलक्षित होती है। इस व्यक्त एवं अव्यक्त जगत् के मूल में एक ही सत्ता, एक ही नियन्ता एवं केवल एक ही देवता है। अन्य सभी देवता उसके रूपमात्र हैं इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन ऋषियों ने भिन्न-भिन्न प्रकारों से किया है। एक ही महान् सत्ता की उपासना ऋग्वेदी उक्थ के रूप में, यजुर्वेदीय याज्ञिक अग्नि एवं सामवेदी महाव्रत के रूप में करते हैं।[10]

इस विषय में ऋग्वेद का कथन द्रष्टव्य है। ऋग्वेद में देवताओं को 'असुर'[11] भी कहा गया है। असुर का अर्थ है- असुविशिष्ट अथवा प्राणशक्तिसम्पन्न। इन्द्र, वरुण, सविता आदि देवता असुर हैं। देवगण अविनश्वर शक्तिमात्र हैं। वे 'आतस्थिवांसः' (स्थिर रहने वाले), अनन्तासः (अनन्त), अजिरासः, उरवः तथा विश्वतस्परि कहे गये हैं।[12] वे विश्व के सभी प्राणियों को व्याप्त कर स्थित रहते हैं। उनके लिए सत्य, ध्रुव तथा नित्य प्रभृति शब्दों का प्रयोग किया गया है। इतना ही नहीं, एक सूक्त में देवताओं का असुरत्व एक ही माना गया है। असुरत्व का अर्थ है- बल या सामर्थ्य। देवताओं के भीतर विद्यमान सामर्थ्य एक ही है, भिन्न-भिन्न तथा स्वतंत्र नहीं। इस सूक्त के प्रत्येक मंत्र के अन्त में यही पद बार-बार आता है- 'महद् देवानामसुरत्वमेकम्।'[13] एक ही शक्ति के विकसित रूप होने से उनमें विद्यमान शक्ति एक ही है।

ऋग्वेद में ही एक अविनाष्ठी एवं सत्य सत्ता का उल्लेख ऋत के रूप में हुआ है। इसके कारण ही सष्टि की उत्पत्ति होती है।[14] सष्टि के प्रारम्भ में ऋत ही उत्पन्न हुआ था।[15] विष्ठव में सुव्यवस्था प्रतिष्ठा तथा नियमन का कारणभूत तत्त्व यही है। इसके कारण ही विषमता के स्थान पर समता, अष्ठान्ति के स्थान पर ष्ठान्ति का प्रसार होता है।[16] इस जागतिक सुव्यवस्था का कारण ऋत अर्थात् सत्यभूत ब्रह्म ही है। देवगण इस ऋत के रूप हैं अथवा इससे उत्पन्न हैं। सोम ऋतजात तथा उसी से वर्धित होता है। सूर्य ऋत का ही विस्तार करता है तथा नदियाँ इसी ऋत को वहन करती हैं।[17] सभी देवताओं, पदार्थों एवं कार्यों में यही ऋत अथवा कारणसत्ता अनुप्रविष्ट है। इसके आधार पर ही कार्यवर्ग स्थित है।

ऋग्वेद में देवता दो रूपों में वर्णित हैं- प्रथम स्थूल दष्टयमान रूप तथा द्वितीय सूक्ष्म गूढ़ रूप। उनका जो रूप हमारी आँखों के सामने है वह उनका स्थूल अथवा आधिभौतिक रूप है। परन्तु जो हमारी इन्द्रियों से अतीत है, जिसे ग्रहण करने का सामर्थ्य इन्द्रियों में नहीं है वह उनका गूढ़ अथवा आधिदैविक रूप है। इसके अतिरिक्त देवताओं के एक तीसरे रूप का ज्ञान भी मंत्रों से होता है, जिसे आध्यात्मिक रूप कहा जाता है। उदाहरण के रूप में विष्णु, सूर्य एवं अग्नि के द्विविध रूपों को देखा जा सकता है। विष्णु ने अपने एक रूप द्वारा पार्थिव लोकों का निर्माण किया, अन्तरिक्ष को स्थिर किया तथा तीन क्रमों से लोकों को नाप डाला।[18] परन्तु इसके अतिरिक्त उसका एक परम पद है जहाँ उनका सूक्ष्मरूप निवास करता है। उस लोक में उसके अनुयायी अमष्त पान करते हैं। वहाँ अमष्त कूप हैं।[19] इस लोक को ज्ञानसम्पन्न लोग ही जानते हैं।[20] विष्णु हमारा सच्चा हितैषी है।[21] विष्णु के परम पद की प्राप्ति ब्रह्म की ही उपलब्धि है।

इसी प्रकार उत्, उत्तर एवं उत्तम द्वारा सूर्य के त्रिविध रूपों का कथन किया गया है। पष्थिवी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक के कार्य निष्पादन के लिए इसके तीनों रूप क्रमष्ठा: महत्त्वपूर्ण हैं। पष्थिवी एवं अन्तरिक्ष लोक में विद्यमान सूर्य की ज्योति से बढ़कर एक अति विष्ठिष्ट ज्योति द्युलोक में है जिसे उत्तम कहा गया है। इस प्रकार सूर्य के रूपों के लिए प्रयुक्त ष्ठाब्द क्रमष्ठा: उसकी कार्यात्मक, कारणात्मक एवं कार्य-कारण से अतीत अवस्था के द्योतक हैं। इसे हम सूर्य का आधि भौतिक, आधिदैविक एवम् आध्यात्मिक स्वरूप मान सकते हैं।[22] 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषष्टच'[23] इस जंगम एवं स्थावर संसार का आत्मा सूर्य है, इस मंत्र का लक्ष्य आधिभौतिक सूर्य नहीं है। आत्मा ष्ठाब्द स्पष्टत: परमात्म तत्त्व के लिए प्रयुक्त किया गया है।

ऐसा ही स्थूल एवं सूक्ष्म रूपों का वर्णन अग्नि के विषय में भी मिलता है। ऐतरेय आरण्यक अग्नि के दो रूपों का वर्णन करता है- 1. तिरोहित अग्नि, , 2. पुरोहित अग्नि। तिरोहित रूप अग्नि के सूक्ष्म एवं गूढ़ रूप का परिचायक है। पुरोहित रूप उसके व्यक्त एवं पार्थिव रूप को प्रकट करता है। 'अग्निमीळे पुरोहितम्'[24] मंत्र में अग्नि के पुरोहित रूप का ही वर्णन हुआ है।

इन प्रमाणों के आधार पर निःसन्देह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद इस विष्ठव के अनुपम ष्ठाक्तिष्ठाली नियन्ता से पूर्ण परिचित है, तथा वह विविध देवताओं को उसी की नाना ष्ठाक्तियों का प्रतिनिधि बतलाता है। अतः वैदिक धर्म अद्वैततत्त्व के ऊपर अवलम्बित है। नानात्व में एकत्व की भावना, भिन्नता में अभिन्नता की कल्पना दार्ष्ठानिक जगत् में मौलिक तत्त्व हैं। इस निगूढ़तम तत्त्व को उद्घाटित करने का श्रेय हमारे प्राचीन महर्षियों को ही प्राप्त है। अवान्तरकालीन उपनिषत्साहित्य एवं वेदान्तादि दर्ष्ठान उस संहितागत कथ्य की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार बीज रूप में विद्यमान उस परमात्म तत्त्व का चिन्तन एवं मनन भारतीय मेधा अपने दार्ष्ठानिक धरातल पर सष्टिकाल से करती आयी है।

सन्दर्भ :

1. ऋग्वेदसंहिता 1.164.46
2. तदैव, 10.90
3. ते यदिदमाहुरमुं यजामुं यजेत्येकैकं देवमेवस्यैव सा विसष्टिरेष उ ह एव सर्वे देवाः। बष्ठदारण्यकोपनिषद् 1.4.6
4. प्रजापतिसूक्त, 10.121
5. नासदीयसूक्त, 10.129.2
6. निरुक्त, 7.4
7. बष्ठद्देवता, 1.61-63
8. वैदिक साहित्य एवं संस्कष्टि, पष्ट 473-74 तथा द्रष्टव्य- 'ए हिस्ट्री ऑफ एंष्ठाएण्ट संस्कष्ट लिटरेचर', मैक्समूलर
9. ब्रह्मसूत्र, 2.1.5
10. ऐतरेयारण्यक, 3.2.34.12 'एतं ह्येव बह्वष्ठा महत्यक्थे मीमांसन्त एतमग्वध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगाः।'
11. ऋग्वेद, 4.53.1 तद् देवस्य सवितुः असुरस्य प्रचेतसः।
    ऋग्वेद, 5.83.6 (पर्जन्यः) असुरः पिता नः। ऋग्वेद, 3.18.4 महद् विष्णोः असुरस्य नाम।
12. ऋग्वेदसंहिता, 5.47.2
13. तदैव, 3.55
14. तदैव, 3.55.5
15. तदैव, 10.190.1 ऋतं च सत्यं चामीद्धात् तपसोऽध्यजायत।
16. तदैव, 9.108.8
17. तदैव, 1.105.15 ऋतमर्पन्ति सिन्धवः।
18. तदैव, 1.154.1

19. ऋग्वेद, 1.154.5 विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः।

20. तदैव, तद् विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत् परमं पदम्।

21. ऋग्वेद, 1.154 स हि बन्धुरित्था।

22. तदैव, 1.20.10

    उद् वयं तमसस्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तरम्।

    देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्।।

23. ऋग्वेद, 1.115.1

24. तदैव, 1.1.1

भारतीय संस्कृति में निहित हिन्दु राष्ट्रवाद

डॉ० लाल बहादुर स्वर्णकार*

इतिहासकारों ने जिस तरह हिन्दु शब्द को भारत में रहने वाले सभी लोगों की संस्कृति से जोड़कर देखने का प्रयास किया है, उसी तरह हिन्दु राष्ट्रवाद, जो हमारे वेदों में निहित है उसकी चर्चा करते समय सभी विद्वान् यहाँ के निवासियों को भरत के वंशज मानकर चलते हैं। इतिहासकारों का मानना हे कि हिन्दू शब्द सिन्धु सभ्यता में रहने वाले लोगों को ईरानियों के द्वारा सम्बोधित करने वाला शब्द है। इससे जाहिर होता है कि हिन्दु शब्द सबसे प्राचीन प्रमाणित सभ्यता से जुड़ा हुआ है। इसी कारण इसको हिन्दुस्तान कहकर आज भी पुकारा जाता है। हिन्दु सिर्फ धर्म का नाम नहीं है यह एक संस्कृति है जो विश्व की प्राचीनतम और महत्त्वपूर्ण संस्कृति और राष्ट्रीयता है।[1] अतः धर्म के नाम पर हिन्दु, सिख, मुसलमान और ईसाई किसी को भी अलग नहीं किया जा सकता। इसी परम्परा को हमारे वैदिक साहित्य, मौर्य साहित्य जिनमें कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा उनके राजाओं चन्द्रगुप्त मौर्य तथा अशोक महान द्वारा निभाया गया। इसी कारण चाणक्य एक महान हिन्दु राष्ट्र की कल्पना को सार्थक बनाया था जिसे हम भारतीय वैदिक साहित्य में देख सकते हैं। जिसकी श्रेष्ठता, महत्ता और उदारता का प्रतिपादन सभी विद्वानों ने किया है। न केवल भारतीय विद्वानों ने अपितु विदेशी विद्वानों तथा आलोचकों ने भी वैदिक साहित्य और भारतीय संस्कृति की प्रशंसा की है। इसमें प्रमुख हैं- मैक्समूलर, ए. कगाई, विन्टरनिट्ज और हेनरिक जिमर आदि। आधुनिक समय में अनेक मार्क्सवादी विद्वानों में वेद और वैदिक संस्कृति की आलोचना करने का एक फैशन बन गया है। अनेक भारतीय विद्वान्, पाश्चात्य प्रभाव से अभिभूत होकर, वेद एवं वैदिक संस्कृति का मजाक उड़ाने लगे हैं जिनमें जेकाटे हॉक्स और सर लियोनार्ड वूली हैं।[2] विदेशी कहना तथा बर्बर एवं आक्रमणकारी कहना उनके लिए गौरव का विषय बन गया है। किन्तु उनके आरोप निराधार एवं भ्रामक प्रमाणित हो चुके हैं। स्वातंत्र्योत्तर भारत में अनेक बुराइयों, दोषों एवं कुरीतियों ने तेजी से जड़ें जमायी हैं। इन बुराइयों ने राष्ट्र की प्रगति एवं एकता को अत्यन्त प्रतिकूल ढंग से प्रभावित किया है। ये दोष हैं- राजनीतिकता एवं अनैतिकता, अराजकता, जातिवाद, भ्रष्टाचार, साम्प्रदायिकता, द्वेष-भाव, हिंसा एवं आतंकवाद। राष्ट्रीय एकता का प्रयोग यहाँ विशेष भौगोलिक परिवेश, सांस्कृतिक एकता व सामाजिक समरसता के सन्दर्भ में किया गया है।

*एसो. प्रोफेसर, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

आज 'भिन्नता में एकता' मात्र पुस्तकों तक ही सीमित रह गयी है। महात्मा गाँधी ने जो रामराज्य और एक राष्ट्र की कल्पना की थी वह कहाँ रह गयी है।[3] सुभाष चन्द्र बोस ने जो एक हिन्दुस्तान की कल्पना की थी, वो क्या यही है।[4] आजादी के बाद देश में सर्वत्र भ्रष्टाचार, लूटपाट व स्वार्थपरक राजनीति का वातावरण छा गया। इनका कारण है 'चारित्रिक संकट'।

आज आवश्यकता है देश में स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द एवं बंकिमचन्द चट्टोपाध्याय जैसे सांस्कृतिक पुनर्जागरण आन्दोलन की। और यह आन्दोलन वैदिक संस्कृति के अनुपालन से ही सम्भव है। वेदों में राष्ट्रीय एकता एवं राष्ट्रवाद की प्रगति के लिए अनेक सूक्त व मंत्र दिये गये हैं। इनको सुविधा की दृष्टि से कुछ महत्त्वपूर्ण भागों में विभक्त किया गया है।

राष्ट्र में एकता अर्थात् राष्ट्रवाद

अथर्ववेद के बारहवें काण्ड का प्रथम सूक्त भूमि अथवा राष्ट्र सूक्त के नाम से प्रसिद्ध है। राष्ट्र प्रेम और वीर भाव से ओतप्रोत इस सूक्त में 63 मंत्र हैं जिनमें मातृभूमि की विविध रूपों में महत्ता प्रकट की गयी है। बारहवें मंत्र में 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' कहकर मातृभूमि पर रहने वाले समस्त मनुष्यों को मातृभूमि की सन्तान कहा गया है। इसी प्रकार दसवें मंत्र में 'माता पुत्राय मे पयः' कहकर मनुष्य का राष्ट्र से बेटे और माँ का सम्बन्ध बताया गया है। पैंतीसवें मंत्र में 'मा ते हृदयम अर्पियम्' कहकर राष्ट्र को नुकसान से बचाने के लिए कहा है। दूसरे शब्दों में, सभी नागरिकों के लिए राष्ट्र का हित सर्वोपरि बताया गया है। आन्तरिक व बाह्य खतरों से राष्ट्र की सुरक्षा करना नागरिकों का परम धर्म कहा गया है। विघटनकारी तत्त्व राष्ट्रद्रोही के रूप में दिखाये गये हैं। यजुर्वेद के एक मंत्र में राजा कहता है- 'विशो मे अंगानि सर्वतः' अर्थात्, प्रजाजन ही मेरे शरीर के सब प्रकार के अंग और अवयव हैं।[5] प्रजाजनों का शासक के अंग होने का अर्थ है कि जनता का दुःख शासक का दुःख है जिसे राजा को दूर करना चाहिए और आवश्यकता पड़ने पर जनता के घर भी जाना चाहिए। राजा को समस्त नागरिकों के साथ एक सा व्यवहार करना चाहिए; उसे भेदभाव से दूर रहना चाहिए। ऐसा ही आदर्श कौटिल्य ने राजा के लिए प्रस्तुत किया था।[6]

राज सभाओं में एकता

ऋग्वेद के अन्तिम मण्डल में राज सभाओं में एकता का अत्यन्त प्रभावकारी वर्णन प्रस्तुत किया गया है-

"संगच्छध्वं, संवदध्वं, सं वो मनांसि जानाताम।

देवा भागं यथा पूर्वे, संजानाना उपासते।"[7]

हे मनुष्य! आप सब लोग एक साथ मिलकर चलें, मिलकर समान वचन बोलें और एक

साथ सोचें। जैसे कि आपके विद्वान् पूर्वज सब सत्कर्मों को जीवन में एक होकर करते रहे हैं वैसे आप भी करते रहें। इसी मण्डल व इसी सूक्त के चौथे मंत्र में राष्ट्रीय एकता व सद्भावना से रहने के लिए जोर देते हुए कहा गया है-

"समानी व अकूतिः समाना हृदयानि वः।

समानमस्तु वो मनो, यथा वः सुसहामति॥"[8]

"आप सबकी इच्छा व हृदय की भावना एक सी हो। मन एक से हों, ताकि आप परस्पर प्रेम और सहयोगपूर्वक अच्छा जीवन पालन कर सकें।"

इस प्रकार ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में इस बात पर जो बल दिया गया है कि सभासदों को विवादरहित होकर समान जनकल्याण का मार्ग अपनाना चाहिए ताकि राष्ट्र की उन्नति निरन्तर होती रहे।

समाज में एकता व समानता

अथर्ववेद के तीसरे काण्ड के तीसवें सूक्त के प्रथम मंत्र में सामाजिक एकता के विषय में उल्लेख आता है-

"सहृदयं सौमनस्यं अविद्वेषं कृणोमि वः।

अन्यः अन्यं अभिहर्यत, वत्सं जातं इव अधन्या॥"[9]

"मैं तुम्हें समान हृदय वाला बनाता हूँ। तुम्हें आपसी द्वेष से मुक्त करता हूँ। तुम एक दूसरे से इस प्रकार प्रेम करो जैसे गाय अपने नवजात बछड़े से प्रेम करती है।"

अथर्ववेद के एक अन्य मंत्र में राष्ट्रीय एकता की सुन्दर प्रेरणा दी गयी है-

"जन विभ्रती बहुधा निवाचसं नाना धर्माणं पृथिवी यथोकसम्।

सहस्रं धारा द्रविरास्य मे दुहां ध्रुवेन धेनुरनपस्फुरन्ती॥"[10]

"राष्ट्र में विभिन्न धर्मों, जातियों, भाषाओं, स्थानों और रीति-रिवाजों के मनुष्य रहते हैं, किन्तु राष्ट्रहित के कार्यों में उनको अपनी भिन्नता भुलाकर एक साथ ऐसे दृढ़ होकर खड़े रहना चाहिए जैसे दूध देते समय गाय स्थिर खड़ी रहती है।"

इस मंत्र से स्पष्ट है कि हजारों वर्ष पूर्व दिया गया वैदिक मंत्र ।अज भी हमारे समाज और राष्ट्र की परिस्थितियों में सत्यता के साथ लागू होता है। वैदिक ऋषियों को अनुमान था कि कई प्रकार की भिन्नताओं में अलगाव की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। इसलिए उन्होंने सामाजिक

भिन्नता में भी राष्ट्रीय एकता बनाये रखने पर जोर दिया है। सभी नागरिकों में समभाव, सद्भाव और सौहार्द की भावना की प्रेरणा दी है। यदि राष्ट्र के शासन तंत्र में, राज्य सभाओं में समाज और परिवार में अटूट स्थायी एकता बनी रहे तो राष्ट्र का व्यक्तित्व इतना शक्तिशाली हो जायेगा कि कोई भी बाहरी शक्ति उसे नुकसान नहीं पहुँचा सकेगी और हमारा राष्ट्र विश्व के समस्त राष्ट्रों में अग्रणी बन जायेगा।

भ्रष्टाचार और अकर्मण्यता का निवारण

भारत में राजनीतिक घोटाले चरम सीमा पर पहुँच गये हैं। इन घोटालों में शीर्ष के नेता लिप्त हैं। साधारण जनता पर पच्चीस प्रतिशत धन भी खर्च नहीं हो पाता है। इन दोषों से मुक्ति पाने के लिए उपनिषदों में उत्तम शिक्षा दी गयी है। उपनिषदों में कहा गया है कि ईश्वर प्रदत्त वस्तुओं का हम भोग अवश्य करें परन्तु उसमें लिप्त न हों। 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा'[11] इस उपनिषद् वाक्य की ही कालान्तर में गीता में विस्तृत व्याख्या की गयी और 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' की बात कही गयी है। उपनिषद् मंत्र के अन्त में 'मा गृधः कस्यस्विद्धनम'[12] कहकर स्पष्ट कर दिया गया है कि लालची मनुष्य के लिए इस संसार में सुख की प्राप्ति असम्भव है। वास्तव में भौतिक ऐश्वर्य एवं धन, सम्पत्ति पर एकाधिकार स्थापित करने की कामना ही हमारे विनाश का मूल कारण बन सकती है। संसार को मनुष्य के लिए कर्मक्षेत्र कहा गया है। यहाँ हमें निरन्तर कर्म करते रहना चाहिए। ईशोपनिषद् का यह मंत्र मनुष्य को शतायुपर्यन्त कर्मनिष्ठ जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देता है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणी जिजीविषेच्छंत समाः।

एव त्वचि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥[13]

इस प्रकार कर्म और ज्ञान के समन्वय का उपदेश देकर उपनिषद् ने हमारी सभ्यता के सम्मुख प्रस्तुत घोर चुनौती का उत्तर दिया है। अन्त में यजुर्वेद के बाइसवें अध्याय का बाइसवाँ मंत्र जो वेद के राष्ट्रीय गीत के नाम से प्रसिद्ध है, राष्ट्रीय एकता व राष्ट्र कल्याण की स्पष्ट प्रेरणा देता है।

"आ ब्रह्मणः ब्रह्मवर्चसी जायताम्।

आ राष्ट्रे राज्ञ्यः शूरः इषव्यः अतिव्याधी महारथः जायताम्॥

दोग्ध्री धेनुः वोढ़ा अनड्वान आशु सप्तिः पुरंधि योषा, जिष्णुः रथेष्ठा, सभेयः युवाः अस्य यजमानस्य वीरः पुत्रः जायताम्। निकाये निकाये न पर्जन्यः वर्णतु। फलवत्यः म ओषधयः पच्चन्ताम्। योगक्षेमः न कल्पताम्॥"[14] प्रभु हमारे राष्ट्र के इस विज्ञान में लगे बुद्धिजीवी तप और उन्नत ज्ञान

से सदैव सुष्ठोभित रहें। राष्ट्र रक्षक सैनिक प्रभावकारी अस्त्र-ष्ठास्त्रों से परिपूर्ण रहें और विजय प्राप्त करें। देष्ठा धन-धान्य व सभी उपयोगी वस्तुओं से पूर्ण रहे। सबका सुख कल्याण निरन्तर बढ़ता रहे। इस प्रकार वैदिक ज्ञान एवं ष्ठिाक्षाओं से राष्ट्र में फैली अनेक भिन्नताएँ व बुराइयाँ समाप्त हो सकती हैं और राष्ट्र निष्ठिचत ही प्रगति के पथ पर अग्रसर हो सकता है। साथ ही देष्ठा सर्वोपरि है। इसके साथ कोई समझौता नहीं हो, की नीति जो अष्ठोक महान ने लागू किया था, को लागू करने का प्रयत्न जारी रहे।

सन्दर्भ-

1. (a) Friedrich Max Muller, India: What can it Teach us? (London 1883)
   (b) A. Kaegi, Der Rgveda, die alteste Literature der India, translated into English by R. Anonsmith
   (c) Winternitz, History of India and Literature (translated by Mrs. S. Kitker, Calcutta, 1927)
   (d) heinrich Zimmer; Alten disches lelend
2. Jacquetta Hawkes and Sir Leonard Wooley, A History of Mankind: Cultural and Scientific Development (London, 1960) Vol. I, Part II, Chapter I, "Author's Note and Discussion"
3. Vipin Chandra; India's Struggle for Independence, P. 250
   Shiv Verma; Selected Writings of Shaheed Bhagat Singh
4. D.G. Tendulkar; Mahatma, Life of Mohandas Karamchand Gandhi, 8 Vols. New Delhi
5. यजुर्वेद संहिता, 20/8
6. आर.पी. कांगले (सम्पा.) कौटिल्य अर्थष्ठास्त्र, पष्ट 62
7. ऋग्वेद संहिता, भाग 2, 10/191/2
8. ऋग्वेद संहिता, 10/191/4
9. अथर्ववेद संहिता, 3/30/1
10. वही, 12/1/45
11. ईष्ठोपनिषद्, प्रथम मंत्र
12. वही
13. ईष्ठोपनिषद्, द्वितीय मंत्र
14. यजुर्वेद संहिता, 22/22

महाभारत में राष्ट्र का स्वरूप

डॉ. सुशील कुमार गुप्त*

महाभारतकालीन राष्ट्र के स्वरूपान्तर्गत हमें एक ऐसी शासन व्यवस्था के दर्शन होते हैं जहाँ राजा, प्रजा सभी पर सदाचार पालन तथा कर्तव्यनिष्ठा का अंकुश है। आधुनिक राजनीतिशास्त्र के विद्वानों का मत है कि आदर्श राष्ट्र वही है, जहाँ प्रत्येक नागरिक को मूलभूत सुविधाएँ प्राप्त हों। सर्वत्र सुख, शान्ति और सदाचार का पालन हो एवं सबके हितों की रक्षा की जाए, तभी राष्ट्र सर्वहितकारी बन सकता है। महाभारत के अनुसार, राजा का प्रमुख कर्तव्य है कि वह अपने राजधर्म का निष्ठापूर्वक पालन करे। प्रजा की देखभाल, उसकी आन्तरिक तथा बाहरी संकटों से सुरक्षा, उसे नैतिकता के सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करने के लिए प्रेरित करना, दुष्टों का दमन आदि भी राजा के प्रमुख कर्तव्यों में परिगणित है। महाभारत में कहा गया है–

धर्माय राजा भवति न कामकरणाय तु। (शान्तिपर्व 96.3)

अर्थात् राजा अपने धर्म (कर्तव्य परम्परा) का पालन करने के लिए होता है, न कि मनमानी करने के लिए। शान्तिपर्व 56.44-46 के अनुसार, जिस प्रकार गर्भवती स्त्री अपनी इच्छाओं तथा सुख की परवाह न करते हुए सदैव गर्भ के ही हित का ध्यान रखती हुई आचरण करती है, उसी प्रकार अपने कर्तव्य का पालन करने वाले राजा को भी सदैव वही व्यवहार करना चाहिए, जो कि जनता के हित में हो। ऐसी शासन व्यवस्था में प्रजा की उन्नति तथा समृद्धि उसी प्रकार बढ़ती है, जिस प्रकार सरोवर में कमल खिलते हैं। इस प्रकार का कर्तव्यपरायण प्रजापालक राजा एक सफल शासक होने के कारण प्रशंसनीय तथा सभी यज्ञों के फल को पाने वाला कहा गया है–

प्रजाः यस्य विवर्धन्ते सरसीव महोत्पलम्।
सः सर्वयज्ञफलमाक् राजा लोके महीयते।। (शान्तिपर्व 139.106)

लोकहितकारी राष्ट्र ऐसा आदर्श राष्ट्र है जहाँ शासन के द्वारा ही गरीब तथा कमजोर वर्ग को सहायता प्राप्त होती है। महाभारत में भी दुःखी, बेसहारा, वृद्ध, कमजोर तथा पीड़ित व्यक्तियों की रक्षा करना राजा का कर्तव्य कहा गया है–

*भोपाल

कष्णानाथवष्ज्ञानां दुर्बलातुरयोषिताम्।
संविभक्तास्मि सर्वेषां मामकान्तरमाविष्ठाः॥ (ष्ठान्तिपर्व 77.18)

सभापर्व, 5.125 में युधिष्ठिर से कुष्ठाल-क्षेम पूछने के पष्ठचात् नारद कहते हैं- हे राजन! तुम अन्धे, गूंगे, पंगु, विकलांग, सम्बन्धियोंरहित लोगों को पिता के समान सुरक्षा तो प्रदान करते हो ना? बेसहारा, निर्धन, दुःखी तथा (आर्थिक रूप से पराश्रित) विधवा स्त्रियों को जीवन निर्वाह के निमित्त धन देना तथा उनकी सुरक्षा करना राजा का दायित्व माना गया है-

कष्णानाथवष्ज्ञानां विधवानाञ्च योषिताम्।
योगक्षेमञ्च वष्त्तिञ्च नित्यमेव प्रकल्पयेत्॥ (ष्ठान्तिपर्व 86.24)

महाभारत में भी प्रजा के निर्धन समुदाय को भोजन, वस्त्र तथा आवास सुलभ कराना राजा की उदारता तथा कर्तव्य ही समझे जाते थे-

दीनान्धकष्णानाञ्च गष्ज्ञाच्छादनभोजनैः।
आनष्ठांस्यपरो राजा चकारानुग्रहं प्रभुः॥ (अनुष्ठासनपर्व 42.11)

प्रजा के कल्याण के लिए प्याऊ बनवाना, बाग-बगीचे लगवाना, कुएँ खुदवाना, नहरें निकालना, प्रजा के स्वास्थ्य की रक्षा करने के उद्देष्ठय से आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार जीवन-यापन करने की ष्ठिक्षा देना, यज्ञ कराना - ये सभी आदर्ष्ठा राजा के कार्य अनेक बार गिनाये गये हैं। इन कल्याणकारी योजनाओं के पूरा होने पर निष्ठिचत है कि प्रजा को समस्त सुख-सुविधाएँ प्राप्त होंगी तथा उनका जीवन-स्तर भी ऊँचा उठेगा; परन्तु ष्ठान्ति की स्थापना के लिये यह आवष्ठयक है कि राजा समाज में फैले दुराचार तथा कुरीतियों को भी दूर करे। ष्ठान्तिपर्व 88.14-15 तथा 21-22 में भीष्म पितामह उपदेष्ठा देते हुए कहते हैं- मद्यष्ठाला खोलने वाले, वेष्ठयाएँ कुट्टनियों, वेष्ठयाओं के दलाल, जुआ खेलने वाले तथा अन्य इसी प्रकार के समाजविरोधी कार्य करने वाले लोगों को दण्ड देकर नियंत्रण में रखना चाहिए, क्योंकि ये समस्त राष्ट्र को हानि पहुँचाते हैं तथा यदि ये राष्ट्र में हों, तो कल्याणमार्ग पर चलने वाली प्रजा को कष्ट देते हैं। मद्यष्ठाला, वेष्ठयालय आदि इन सब पर प्रतिबन्ध लगा देना चाहिए, क्योंकि इन सबके सेवन से मनुष्य विषय-वासनाओं में आसक्त होता है। विषयासक्ति से धन तथा कल्याण का नाष्ठा होता है। कामी व्यक्ति सभी अकार्य कार्य करता है, मांस खाता है, मदिरा पीता है, पराये धन तथा स्त्री का अपहरण करता है। स्वयं तो ये कुकष्त्य करता ही है, दूसरों को भी यही कुकष्त्य करने की प्रेरणा देता है। ऐसे लोग सम्पूर्ण प्रजा को अनुष्ठासनहीन बना देते हैं। अतः राजा इन दुष्टों को अवष्ठय ही प्रयत्नपूर्वक दबा कर रखे। इस प्रकार की ष्ठान्तिपूर्ण समष्ज्ञ, धर्म तथा नैतिक आचरण से ओतप्रोत आदर्ष्ठा व्यवस्था तभी सम्भव है, जब प्रत्येक नागरिक अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए, दूसरों को हानि न पहुँचाते हुए अपनी-अपनी उन्नति

करता हो, उनके जीवन की मूलभूत आवष्ठयकताएँ पूर्ण हो रही हों तथा वे अपने अधिकारों के प्रति भी जागरूक हों। ऐसी ही स्वानुष्ठासित तथा प्रबुद्ध समाज की कल्पना महात्मा गाँधी ने की थी।

प्राय: धन के असमान वितरण के कारण अधिकतर अपराध होते हैं। कहा भी है- **'बुभुक्षित: किं न करोति पापम्, क्षीणा: जना: निष्करुणा: भवन्ति।'** अपराध व्यक्ति तथा समाज के हितों का समन्वय न होने के परिणाम होते हैं। अत: यह भी राजा के कर्तव्य की परिधि में आता है कि धन का समान वितरण हो। यह दो उपायों से सम्भव है- (1) धनवानों से टैक्स रूप में वसूले गये धन से गरीबों को अस्पताल, विद्यालय, यातायात के साधन इत्यादि उपलब्ध कराये जायें। (2) यदि इस प्रकार प्राप्त धन पर्याप्त न हो, तो धनवानों को गरीबों के लिए दान देने हेतु प्रेरित करना चाहिए तथा धनवान यज्ञों में दान-दक्षिणा दें, इस प्रकार का वातावरण बनाना चाहिए। सामाजिक कल्याण के उद्देष्ठय से वष्ठा लगाना, बाग लगाना, कुआँ खुदवाना, भोजन, वस्त्र बाँटना इत्यादि जनसाधारण के कल्याण के कार्य धनवान व्यक्ति स्वेच्छा से करें। इस दष्टि से महाभारत के अनुष्ठासनपर्व के दानधर्म-पर्व नामक खण्ड में अनेकानेक स्थलों पर इस प्रकार के जीवनोपयागी कार्यों को पुण्यदायक कहकर कर्ताओं की प्रष्ठांसा की गयी है। दान देने के अनेक नियम भी बनाये गये हैं; यथा- सुपात्र को दान देना चाहिए, दान सम्मानपूर्वक तथा प्रेमपूर्वक देना चाहिए, दान जरूरतमन्द को ही देना चाहिए।

महाभारत में ऐसे आदर्ष्ठा राष्ट्र की परिकल्पना है, जहाँ धनवान स्वेच्छा से निर्धनों के लिए कल्याणकारी कार्यों के लिए दान करते हैं। कर लगाने का लक्ष्य भी, राष्ट्र का योगक्षेम विधान तथा प्रजा के लिए कल्याणकारी योजनाओं को पूरा करना था। अत: राजा को कर तभी लगाना चाहिए, जब आवष्ठयकता हो अन्यथा नहीं।

दापयित्वा करं धर्म्यं राष्ट्रं नीत्या यथाविधि।
तथैतं कल्पयेद् राजा योगक्षेममतन्द्रित:॥ (ष्ठान्तिपर्व 71.11)

यदि राजा अपने कर्तव्यों का पालन करेगा तभी वह जनता से भी उनसे अपेक्षित तथा विहित कर्तव्यों का पालन करवा सकेगा अन्यथा नहीं। डॉ. रघुवीर ष्ठास्त्री जी ने अपनी पुस्तक 'महाभारतकालीन राज्य-व्यवस्था' के अध्याय-3 में इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि मानव का स्वभाव है स्वार्थपरता अर्थात् अपने हितों का ही ध्यान रखना। यदि सभी स्वार्थी हो जायें, तो आपाधापी मच जाये। तब लोकहित का ध्यान कौन रखेगा? अत: मानव जगत् को पतन से बचाने के लिए ही स्वधर्मपालन तथा वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था की गयी तथा राजा को यह दायित्व सौंपा गया कि वह यथाष्ठाक्ति कठोरतापूर्वक प्रजा से धर्म का पालन करवाये। गम्भीर प्रष्ठन है कि इस प्रकार कर्तव्यनिष्ठ, धर्मप्रधान, सामाजिक तथा आर्थिक सुरक्षा की स्थापना किस प्रकार सम्भव है, जिसमें

प्रत्येक व्यक्ति सुरक्षित अनुभव करता हुआ अपनी तथा समाज की उन्नति करे? इसका भी समुचित उत्तर हमें महाभारत से ही प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार महाभारत में एक ऐसे आदर्श राष्ट्र का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने कर्तव्य (धर्म) का पालन करता है। चोरी, हिंसा आदि करने वालों तथा स्वधर्म पालन न करने वालों को समुचित और न्यायसंगत दण्ड दिया जाता है। यदि राजा अपनी प्रजा के रक्षारूपी धर्म के पालन में सफल न हो पाये, तो प्रजा उसके विरुद्ध विद्रोह करके नया राजा चुन सकती है। महाभारत में राजनीति की एक नवीन शैली का प्रतिपादन किया गया है, जिसमें राजनीतिशास्त्र तथा धर्मशास्त्र दोनों के ही सिद्धान्तों को ग्रहण करके एक नये राष्ट्रधर्म का प्रतिपादन किया गया है। भारतीय राजनीतिशास्त्र के विकास में धर्मशास्त्रीय तथा अर्थशास्त्रीय विचारधाराओं का यह अद्‌भुत समन्वय महाभारत का महानतम योगदान है।

UNIQUE THOUGHTS: JAI PRAKASH NARAYAN

Dr. Nitesh Kumar*

Loknayak Jaiprakash Narayan has been consider the most extrovert leader of Indian policy because of his originality and thought and radical approach that has had the equality of not only giving direction to the Indian society but intensity of bringing about not only a radical change but a complete transformation.

There is an inseparable unity in the whole of his thought. The world today needs exploration free society. Democratic Socialism can be realized only by the socialization of the meandering factor of production. Thus, can the cruel process of economic exploitation of the vast masses be neutralized?

The political and economic origination of the state may be based on principle of social justice and economic freedom, condolence to the satisfaction of the national requirements of every member of society and material satisfaction may be its sole objective. It may aim at healthy living and the moral and intellectual development of individual.

India is today facing with a variety of difficulties and rather intricate problems in the socio-economic and political sphere, even after six decades of freedom; we have not been able to find satisfactory, solutions to the challenges of poverty, low production, unemployment, widespread corruption, expensive elections, class-conflicts and violence. The moral fiber of people has been weakened almost beyond repair. The only practical way to resolve our difficulties in a lasting manner is to turn once again to the ideas of Mahatma Gandhi. His approach to various issues was always scientific and national. In our view, the most essential part of J.P.'s thoughts is that pure means must always be employed for the achievements of noble objectives.

Sarvodaya philosophy is a free and flexible ideology which welcome and assimilates

all that is good in others. It synthesizes the west in western democracy with the best in communism with the category of humanistic socialism. It preserves all that is valuable in the culture of the past and accepts all that is valuable in modern thought and practice.

Gandhi was considered to be the greatest revolutionary of this time. He believed that truth could reside in opposites and, therefore, he saw and appreciated truth whenever it existed. His life as he said was asset of experiments with truth. It means that he was to possess a judicious and scientific temper. He was a man of action. He tries his utmost to practice honesty, integrity and truthfulness in his dealings with others. He was a fearless fighter and had great personnel regarding his opponents.

Jayprakash Narayan was for complete freedom of the individual, like Gandhijee but freedom of the individual meant to him, freedom from exploitation by others and this is turn did not give right to any individual not to give right to any individual enjoying complete freedom to exploit others. Such freedom was, of course, always subject to social restraint and obligation and when it comes into conflict with good of the society, it was to be curbed and quashed to that extent.

Though the death of Jaiprakash Narayan has closed the chapter of formation of classless society in the country freedom exploitation of social, moral, political and economic freedom and their growth, it is expected that the people who have realized their values and practicability, will really open the chapter for further suitable action.

It is high time to realize that the technological revolution, unless followed by decentralized system of economy and administration, is bound to be fruitless and baffling. It is nothing sort of sabotaging polities to give the freedom of vote to individual by one hand and deprive him of his life flood by the other to invest a group of manipulating intellectuals with supreme power and to let the people lose heavily in material and moral spheres. Political democracy putting up with economic and ethical slavery of the masses is a self condemned arrangement. Rather, it is the economics democracy that is really dynamic and fruitful and this is the idea which Mahatma Gandhi in his memorable expression called SWARAJ or RAMRAJ.

Jaiprakash a disciple of Gandhijee believed in the theory of continuous evolution of society. According to him, mans hobbits which are sometimes called his second nature, are to change. Moreover, through habitation processes good habits and correct behavior patterns can be formed, there are certain factors which help society in its evolution and

may prove great accelerators of social change. They are science and technology, democracy and the spirit of egalitarians. Though these factors, the change process can be expedited.

There is a valid concept of progress; progress toward good things of life. Every individual and society can attain progress by consciously directing its energies towards the attainment of what is desirable. Hence, it is absolutely necessary that for the progress and growth of society, the theory of determinism should give place to the theory of conscious direction.

According to Vinoba or the traditional economic theory based on the belief that a high rate of growth would easily percolate to the lowest segments of the population has failed miserably. Experience in all developing countries has demonstrated beyond in iota of doubt that the benefits of a fast growth ratio do not necessarily reach out to the masses. He accepted sarvodaya as SATWICK SAMAJWAD that was inherent in voluntary acceptance of social values. His active association with Acharya Vinoba Bhave had given a new shape to the sarvodaya movement Vinoba redefined.

Sarvodaya in the wake of the Chinese aggression in 1962, as "Democratic Socialism by peaceful means" J.P. was, it is said, a Marxist turned Gandhian. In my considered view even though he ceased to be a Dialectical materialist, he retained his faith in the concept of class struggle but linked it with a peaceful technique to set in motion that was an integral part of his seven dimensional TOTAL REVOLUTION.

Jai Prakash was a revolutionary first and revolutionary last, KARL MARX, conceptualized total revolution in term of class struggle in its highest form. J.P. added to it the concept of peaceful action. He did not talk of non-violence, because he was conscious of his own limitations of politics. Mahatma Gandhi regarded him as the great Indian authority on socialism.

J.P. as sarvodaya leader thinks the ideology of sarvodaya is the only panacea for the mankind suffering from hatred, discontent and frustration. Indeed it offers the ethical, socialistic creed based on non-violence and love the ideal alternative to both the materialistic, mechanized and acquisitive capitalism on the one hand which tends to accentuated socio-economic cleavage, desparities and strife. Sarvodaya stands for peaceful, just and an egalitarian social order, free from any economic exploitation or social suppression. It aims at promoting co-sharing and mutual care and under privileged brethren.

The Bhoodan and Gramdan, the manifestations of the feeling of love and concern from the have not constitute a movement based on voluntary giving and sharing and provide the best solution to the exploitation in various forms and violent grabbing and snatching which we see around.

The total revolution is an attempt to apply the principle and technique to the solution of socio-economic and political problems, in this very fast changing scientific age, if human race has to survive.

Total revolution is both an end and a means to achieve the goal of the formation of a classless society free from exploitation, based on equality, liberty and fraternity. Revolution in this context dose not simply mean change of a social-order that we find in present INDIA but also change of this social order plus formation of a new exploitation free society Certainly J.P. is deeply influenced by Marxian thoughts and like Marx he to feel that capitalism cannot help in formation of an egalitarian social order and for that socialism is inevitable. However J.P. does not feel like Marx that violence is morally and legally justified for attaining socialism.

Following suggestion may be placed for implementing the social-economic and political thoughts of Jay Prakash Narayan and for getting its implementation in true sense.

(1) To apply the thought and technique for non-violence to solution of social problems. This is an age of probing into outer space. It must avoid violence, hatred and bloodshed. It is a universal cry today that there should be no world war. Everyone agrees with that. What everyone does not agree on whether likewise violence in small scale should also be eschewed. There is a contradiction in the mind of men today.

(2) Economy is the chief sanction behind all social prestige, social status of the society. So to materialize the effectiveness to provide social status to everyone in the society is imperative.

References:

1. Gandhism: A Socialistic Approach, Allahabad, 1946 –A.N. Agarwal
2. India of My Dream – M.K. Gandhi
3. Swaraj for the people – J.P. Narayan
4. Towards Total Revolution – J.P. Narayan
5. Sarvodaya Movement – J.P. Narayan

6. The Social Philosophy of M.K. Gandhi, Gorakhpur 1958 – M.Prasad
7. Marx Gandhi & Socialism, Hyderabad – R. M. Lohia
8. From Socialism to Sarvodaya – J.P. Narayan
9. Vinoba – Vinoba & His Mission
10. Vinoba – Swaraj Shastra varies 1973
11. Challenge of Poverty – P.D. Ojha

Periodicals & Journals

1. Bhoodan
2. Bhoodan Yojna
3. Khaadi Gramodyog
4. Vinoba Pravachan
5. Harizan